भागवत दर्शन

भागवती स्तुतियाँ (६)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन-भवन,
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)
संशोधित मूल्य २ ० रुपया

प्रथम संस्करण, आषाढ़ शु० वि० २०१७] [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवतप्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग

विषय-सूची

—:०:—

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन और क्षमा याचना

यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय,
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥१
(श्री भा० ५ स्क० १ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

प्रभु जो चाहें करन ताहि को मेटि सकतु है ।
मैंने यह सब कर्यो पुरुष बकवाद करतु है ॥
पशु के नाक नकेल परी जस पुरुष घुमावे ।
तैसे ही गुन कर्म रजु हमकूँ भटकावे ॥
नहिँ करनो चाहे मनुज, विवश ताहि करनो परै ।
जैसे राखें राम जहँ, तहँ तैसे रहनो परै ॥

महाभारत, रामायण और भागवत इन तीनों नित्य पठनीय अमर ग्रन्थों के पठन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि मनुष्य किसीअव्यक्तशक्ति द्वारा घुमाया जारहा है,वह शक्ति इतनी प्रबल

१ श्री ब्रह्माजी राजा प्रियव्रत से कह रहे हैं—"हे बेटा ! भगवान की जो वेद वाणी रूप रस्सी है, यह तीन गुणों से तिलरी करके बटी है, उसी

है, कि उसकी इच्छा के सम्मुख कोई ननु नच करे भी तो कर नहीं सकता। किसी काम को करने की इच्छा न हो, तो भी उसे विवश होकर करना ही पड़ता है। यह मनुष्य का मिथ्याभिमान है, कि हमने ऐसा किया, यदि हम ऐसा करते तो ऐसा न होता। ऐसे होता कैसे नहीं जी! ऐसा तो होना ही था। सभी प्राणी किसी की प्रेरणा से विवश होकर कार्य कर रहे हैं। और कर कहे हैं वे विवश होकर। अर्थ करने वाले उसके विचित्र अर्थ लगाते हैं, वे भी ऐसा करने को विवश हैं। लोग कहते हैं—आपकी, इस बात से तो लोग अकर्मण्य बन जायँगे। जब सब स्वयं ही होता है, तो लोग पुरुषार्थ क्यों करेंगे? सब हाथ पर रखे बैठे रहेंगे।" [१]

यह कैसी विचित्र तर्क है। यदि लोग कुछ भी न करें, कर्म रहित बन जायँ, तो यही तो अन्तिम स्थिति है। किन्तु कोई बिना कुछ किये तो क्षण भर भी बैठा ही नहीं रह सकता। जिसे विजयी होने का संयोग है। वह उत्साह पूर्वक काम करेगा ही, बिना किये वह रह नहीं सकता। हम जानते हुए भी उस काम को करते हैं, क्लेश उठाते हैं, दुःख पाते हैं, किन्तु उसे छोड़ नहीं सकते। जिसे आलस्य में पड़े रहने का संयोग है, उसे लाख उत्साह दिलाओ वह पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता।

देखिये, यदि पुरुषार्थ से ही पैसा पैदा हो सकता, तो कौन नहीं चाहता हम धनिक न बनें। हमारे पास विपुल धन न हो, किन्तु चाहने से ही तो धन नहीं आ जाता। केवल अविरल

---

[१] कर्मरूप दुस्तर बन्धनों वाली रस्सी में, हम सब चराचर जीव उसी प्रकार बँधे हुए हैं, जिस प्रकार बैल आदि चौपाये नाक में नकेल पड़ने से बँधे रहते हैं और वे मनुष्यों की इच्छानुसार बोझा आदि ढोते हैं। वैसे ही हम सब भगवान् की सेवा में विवश होकर लगे हैं।

शारीरिक मानसिक परिश्रम करने से ही तो धन नहीं एकत्रित हो जाता। यदि घोर शारीरिक परिश्रम से धन मिल जाता, तो ये बालूमें ककड़ी, खरबूजा, तरबूजा और लौकी कुम्हड़ा पैदा करनेवाले केवट आदि सब धनिक हो जाते। हमारे सामने गंगाजी का कोसों रजतचूर्ण के समान बालू है। माघ फाल्गुन में गाँव के केवट काछी आदि उस बालू में खेती करते हैं। उनके महान् परिश्रम को देख कर मैं तो चकित हो जाता हूँ। सचमुचमें ये बालूमें तेल निकालते हैं। बालू में तो बीज जमता नहीं। यह केवल तरी का काम देता है। ये लोग कमर कमर तक बालू को खोदकर उसकी क्यारी बनाते हैं। फिर उनमें कोस दो कोस से गली गलियों में से लौना मिट्टी खुरच कर लाते हैं डालते हैं खाद लाते हैं, पौधा लगाते हैं। फूस की को नाममात्र की झोपड़ी बनाकर सपरिवार उसमें रहते हैं। वह ऐसी होती है, कि वर्षा गर्मी जाड़ा सब उसमें घुस जाता है। वे वैशाख ज्येष्ठ की तपती हुई दोपहरी में जलती हुई बालू में वहीं तपस्या करते हैं। पेड़ों में प्रातः मध्याह्न और सायं तीनों समय पानी देते हैं। एक समय भी पानी न दें, तो पेड़ सूख जायँ। उनकी स्त्रियाँ, छोटे से बड़े सब बाल बच्चे उसी में रहते हैं। कभी २ वहीं बच्चे भी पैदा हो जाते हैं। वहीं उसी तपती बालू में भोजन बनाते हैं। जोर से वायु चली, बालू उड़कर आटे-दाल में पड़ जाती है। आधी बालू आधा आटा मिल जाता है उसी किसकिसी दाल को, बालू मिली रोटियों को खाते हैं। छोटे से लेकर बड़े बड़ों तक बहू, लड़की लड़के सभी दिन रात लगे रहते हैं। दिन भर पानी देते हैं। रात्रि में सियारों गीदड़ों को भगाते हैं। तनिक भी सो जायँ, तो सब खा जायँ। इतना परिश्रम करने पर भी न उन्हें तन ढकने को वस्त्र मिलता है, न दोनों जून पेट भरके रोटी। हम लोग कहते हैं—पैसे की चार ककड़ी दो।"

यदि उनके परिश्रम को देखकर मूल्य अङ्कित किया जाय, तो एक मुहर भी एक ककड़ी के लिये कम है। किन्तु स्वयं न खाकर वे उसे पैसे कौड़ियों में बेचते हैं, और महाजनों की ब्याज को चुकाते हैं। इसके विपरीत एक व्यापारी गद्दी तकियों के सहारे बैठा केवल फोन से बातें करता रहता है। घंटों में लाखों का वारा न्यारा कर डालता है। आप कहेंगे यह तो समाज की विषमता का अन्याय है, सो यह तो साम्यवाद कहाने वाले देशों में होता है। सदा से होता आया है, हो रहा है, सदा होता रहेगा। भाग्य को कोई अन्यथा नहीं कर सकता, प्रारब्ध को कोई हटा नहीं सकता। विषमता को कोई मेंट नहीं सकता। भाग्य में जो होना होगा वह होकर ही रहेगा। उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसी में नहीं। इसी से मैं कहता हूँ हम किसी के यन्त्र हैं। वह यन्त्री जैसे घुमाता है, वैसे घूमते हैं। जिधर ले जाता है उधर विवश होकर चले जाते हैं।

मैं अपनी ही बात कहता हूँ—पहिले श्री भागवती कथा के ५०।६० खण्ड लिखने की ही बात थी। पहिले पहिले के विज्ञापनों में यही छापा जाता था, कि "यह भागवती कथा लगभग ५०।६० खण्डों में समाप्त होगी, किन्तु जब विस्तार होने लगा, तो १०८ खण्डों की चर्चा चली और अगले विज्ञापनों में १०८ खण्ड होने की बात छापी गयी। जब ६० खण्डों में केवल कथा ही भाग समाप्त हुआ, तब तो यह बात दिखायी ही देने लगी कि शेष ४८ खण्डों में अन्य विषय रहेंगे।

६० भाग निकलने के अनन्तर कई वर्ष सक्रिय सार्वजनिक आन्दोलनोंमें बीत गये। प्रेमी पाठक पाठिकाओं के आग्रह निरन्तर आने लगे—कब १०८ समाप्त करोगे? बूढ़े कहने लगे, हम मर जायँगे तब समाप्त किया तो क्या लाभ? कोई कहते हमारा तो

मन ही नहीं लगता। नित्य आशा लगाये रहते हैं, कब नया खंड आये कब हम पढ़ें। कोई कहते हमारे यहाँ नित्य नियम से 'भागवती कथा' पढ़ी जाती है। परिवार तथा आस पास के लोग जुट कर इसकी कथा सुनते हैं। नये खण्ड निकालने में शीघ्रता कीजिये।"

इन बातों को पढ़ सुनकर मुझे आन्तरिक प्रसन्नता होती, मेरे मन में भी आई जैसे बने तैसे इसे पूरा कर दो। सोचा यह था यदि एक महीने में एक भी खण्ड लिखूँगा, तो चार वर्ष में ४८ खण्ड हो जायँगे। यही सोच कर चार वर्ष प्रयागराज में ही रहने का संकल्प किया। मैं जानता था, अपने शरीर पर अपना ही अधिकार नहीं। यह सार्वजनिक वस्तु है। वैसे तो कोई छोड़ेगा नहीं। अतः नियम यह बनाया था कि दिन में एक बार त्रिवेणीजी में आकर अवश्य स्नान करना। इससे दूर जाने से तो बच गया, किन्तु आस पास तक—जहाँ से दूसरे दिन लौटकर त्रिवेणी स्नान कर सके, वहाँ तो कई बार जाना ही पड़ा। फिर भी जैसे तैसे चार वर्ष तो यहाँ पूरे हो ही चुके, किन्तु ४८ खण्ड भागवती कथा के नहीं लिखे गये।

प्रथम वर्ष जब लिखने लगे, तो ६१-६२ की ग्राहकों के पास वी० पी० गयी। ५-६ खण्ड निकले भी गये, तभी एक बीच में विघ्न पड़ा। शरीर में सुस्ती आने लगी, निद्रातन्द्रा अधिक सताने लगीं, पेट भारी हो गया। श्लेष्म बढ़कर शरीर में कुछ स्थूलता आ गयी। लिखने में आलस्य प्रतीत होने लगा। मुझे कुछ आयुर्वेद से अनुराग है, मैंने सोचा लाओ कुछ आयुर्वेद शास्त्र द्वारा अपनी ही चिकित्सा करें। यही सोच कर अपनी चिकित्सा आरम्भ की। कहावत है "विनायकं विकुर्वाणं रचयामास वानरः" बनाना चाहते थे गणेश जी बन गये हनुमान जी। सो मैं चाहता

था कुछ और, किन्तु वानिक कुछ और ही बन गया। हमारे यहाँ व्याकरण, योग और आयुर्वेद इन तीनों शास्त्रों के प्रणेता एक ही ऋषि माने जाते हैं। इससे प्रतीत हुआ इन तीनों शास्त्रों में बड़ा साम्य है। आयुर्वेद और योग शास्त्र तो परस्पर सम्बद्ध ही है। शरीर शुद्धि के साथ नाड़ी शुद्धिका भी कार्य आरम्भ हुआ। आप देखते हैं, बड़ी बड़ी दुकानों में गद्दी लगती हैं, उस पर मैल खोरा बिछाया जाता है। उस पर स्याही भी गिर जाती है, गोंद गिर जाता है। मैल जमते२स्याही आदि की कालिख दिखाई नहीं देती। बहुत मैला हो जाता है, जब उसे साबुन से धोते हैं, तो ज्यों ज्यों मैल निकलता है, त्यों त्यों उसके काले दाग स्पष्ट होते जाते हैं, जितना ही धोओ उतनी ही कालिख निकलती जाती है। भर्तृहरि जी ने कहा है—"जब हम कुछ नहीं जानते थे, तब हाथी की भाँति मद में मत्त होकर समझते थे, हम सब कुछ जानते हैं, हम बड़े चतुर हैं। किन्तु जब तनिक तनिक विद्वानों के समीप जाने लगे, उनका सत्संग सुनने लगे तब हम समझ गये—अरे, हमतो मूर्ख हैं, कुछ भी नहीं जानते। इसका ज्ञान होते ही जो हमारा सर्वज्ञ होने का मद था वह उसी प्रकार उतर गया जैसे ज्वर उतर जाता है।" सो,पहिले हमें भी बड़ा अभिमान था कि हमारा शरीर बड़ा शुद्ध है, किन्तु जब शुद्धि करने लगे और मल को निकालने लगे, तो जैसे लहसुन प्याज के एक छिलके को उतारने पर उसके नीचे दूसरा तीसरा चौथा ऐसे छिलके की तहें निकलती ही जाती हैं, उसी प्रकार मल का कोई अन्त ही दिखाई नहीं देता। शास्त्रों में जो शरीर को मलायतन कहा है उसका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा। जैसे कालयवन श्रीकृष्ण को पकड़ने उनके पीछे दौड़ता था, तो पग पग पर उसे ऐसा अनुभव होता था कि श्रीकृष्ण को बस मैं अभी पकड़ता हूँ। जहाँ दो हाथ बढ़ा नहीं कि

श्रीकृष्ण मेरी पकड़ाई में आ जायँगे। इस प्रकार वह मुचुकुंद गुफा तक उनका पीछा करता हुआ चला गया। इसी प्रकार मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता था, कि अब दश दिन में यह शुद्धिका काम समाप्त हुआ नहीं कि मैं तुरन्त शेष खंडों को लिख डालूँगा परन्तु आज चार वर्ष हो गये, शुद्धिका अन्त ही दिखाई नहीं देता। भगवान् ने कहा है "निरमल मन जन सो मोइ पावा। मोइ कपट छल छिद्र न भावा" सो वह निरमलता कहीं दिखाई ही नहीं देती। अब दशा ऐसी हो गई है जैसे कोई बहुत गरम खीर का बड़ा ग्रास मुख में भर ले, तो न वह निगलते ही बनता है न उगलते ही। अब सोचते हैं इतना किया तो अब बीच में छोड़ना ठीक नहीं। इस प्रकार एक एक दिन करके चार वर्ष हो गये। अभी कितने दिन और लगेंगे। इस जन्म में शुद्धि हो भी सकेगी या नहीं, कुछ निश्चय कहा नहीं जा सकता।

मैं पाठकों से कोई छल कपट नहीं कर रहा हूँ, सत्य सत्य बात बता रहा हूँ। मैं कोई बहाने बाजी नहीं करता। अब मैं ऐसी स्थिति में हूँ, कि निश्चय नहीं कह सकता आगामी खंड कब निकलेंगे, निकलेंगे भी या नहीं। इसकी कोई प्रतिज्ञा नहीं। ऐसी दशा में अब मैं अधिक दिन पाठकों को आशा में नहीं लटकाये रह सकता। बहुत से भाई प्रायः पूछते ही रहते हैं, कब तक आगे के खंड निकालोगे, कब तक आशा रखें। उन भाइयों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब सन्तोष को धारण करलें।

इस अड़सठ वें में खण्ड के बहुत से फरमे कई वर्षों से छपे हुए, कुछ कंपोज हुए पड़े थे। कुछ वेदस्तुति की स्तुतियाँ लिखी गयी थीं, कुछ लिखने को शेष थीं। जैसे तैसे उन्हें पूरा किया। ६९ वें खण्ड की भूमिका भी बहुत दिनों से लिखी रखी थी।

जब ६८ वें खण्ड में स्तुतियाँ पूरी हो गयीं और कुछ स्थान शेप रह गया, तो वह ६९वें खण्ड की "भूमिका कालाय तस्मै नमः !" यह भी इस ६८ वें ही खण्ड में लगा दी। इस प्रकार इस खण्ड में भागवती कथा की सभी स्तुतियाँ समाप्त हुईं। नियमानुसार पाठकों को एक वर्ष के १२ खण्डों में से हमें ४ और देने चाहिये। ७२ खण्ड दे दें, तो उनकी वार्षिक न्यौछावर पूरी हो, किन्तु वर्तमान परिस्थिति में मैं इस दशा में नहीं हूँ, कि शीघ्र ही अगले खण्ड लिख सकूँ। अतः चार खण्डों के पाँच रुपये मूल्य के बदले इस खंड के साथ हम सवा पाँच रुपये की "भागवत चरित" की एक एक पुस्तक पाठकों की सेवा में भेज रहे हैं। यह इसका पाँच हजार का तीसरा संस्करण छपा है। सहस्रों भाई बहिन इसका नित्य नियम से साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक आदि पाठ करते हैं। यदि छप्पय छन्द की लय मालूम हो जाय, तो पढ़ने में तथा सुनने में यह बहुत ही सरस प्रतीत होती है। कृष्ण चरित और फिर व्रजभाषा में होने से सोने में सुगंध का काम करता है। हमारे यहाँ से प्रशिक्षण पाकर बहुत से "भागवत चरित व्यास" भी निकले हैं, जो बाजे तबलेपर भागवत चरित की कथा कहते हैं। वे कभी घूमते फिरते आपके नगर में पहुँच जायँ, तो आप उनसे छप्पय छन्दों की लय जान सकते हैं। इस प्रकार यह "भागवत चरित" आपके लिये बहुत ही हितकर पड़ेगा। आपके बाल बच्चे बच्ची इसे पढ़कर प्रसन्न होंगे। जिन भाइयों के पास पहिले से ही "भागवत चरित" हो वे इसे किसी योग्य सत्पात्र को देकर पुण्य लाभकर सकते हैं। जो चाहें और अधिक भी मँगाकर सुयोग्य अधिकारियों को वितरित कर सकते हैं।

कुछ लोग अपने को बहुत ही अधिक व्यवहार निपुण तथा खरा कहने वाला बताते हैं। वे पैसे पैसे के लिये कार्यालय

में झगड़ा करते हैं और ऐसी कड़ी कड़ी बातें करते हैं. ऐसे ऐसे लांछन लगाते हैं, कि उन्हें पढ़ते ही बनता है। पढ़कर दया भी लगती है और हँसी भी आती है। ऐसे ही लोगों में से कुछ कह सकते हैं—"वाह जी वाह, यह अच्छी रही। हमने आपको भागवती कथा के लिये रुपये दिये थे, कि भागवत चरित, के लिये। आप भागवती कथा न देकर हमारे सिर बलपूर्वक भागवत चरित मढ़ रहे हैं। हमें नहीं चाहिये आपका भागवत चरित। या तो सीधे से हमें आगेके चार खंड दीजिये, नहीं हमारे शेष पैसे वापस कीजिये। "दान सौसौ का,हिसाब जौजौ का" हम अपनी इच्छा से जो चाहें दान पुण्य करें, किन्तु व्यवहार तो व्यवहार ही है। हमसे तीन पाँच न लगाइये। अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये।" ऐसे भाइयों से मैं बहुत ही नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूँ, कि वे ६८ वें खण्ड को तो लें रख और भागवत चरित को दें लौटा। भागवत चरित आते ही यहाँ कार्यालय से उन्हें ५) नकद लौटा दिये जायँगे। इस प्रकार रखें या लौटावें दोनों ही दशा में हमारा उनका लेखा जोखा अब बराबर हुआ।

मैं पाठकों से यह नहीं कह सकता कि अब भागवती कथा के अगले अंक निकलेंगे ही नहीं। यदि भगवान् ने उन्हें लिखाना चाहा और वे निकले तो अब किसी से १२ महीने की अग्रिम न्यौछावर न ली जायगी। जितने खंड निकला करेंगे,उनकी सूचना पाठकों को दे दी जाया करेगी, जो चाहें वे न्यौछावर भेजकर उन्हें मँगाले। यदि किसी कारण से अगले अंक न निकले, तो तो इन ६८ खण्ड में ही भागवती कथा की समाप्ति समझनी चाहिये। मैं स्ववश नहीं, परवश हूँ। स्वाधीन नहीं, पराधीन हूँ किसी यन्त्री द्वारा परिचालित यन्त्रमात्र हूँ, मेरी इच्छा से कुछ होने जाने का नहीं। यन्त्री जो करावेगा वही मुझे विवश होकर

करना पड़ेगा। अतः आज तो में अत्यंत ही दुःख के साथ द्रवित हृदय से अपने प्रेमी पाठक पाठिकाओं से विदा ले रहा हूँ। अब मेरा चेला मेरा साथ दे नहीं रहा है, वह मुझे कथा लिखने को उत्साहित कर नहीं रहा है। कान की नाड़ियाँ जिनका सीधा सम्बन्ध वाणी, नासिका और गुदा की नाड़ियों से है, वे वायु के अत्यधिक भरने से फूल गयी हैं। दूर से दूरश्रवणयन्त्र (टेली फोन) की घंटी भी मुझे सुनाई नहीं देती। रास में जो नृत्य के समय घुँघरू बजते हैं वे भी सुनाई नहीं देते। कान स्वयं एक राग अलापते रहते हैं। वे एक विचित्र अव्यक्त घोष करते रहते हैं, जब इतनी दूर के शब्द को सुनने में असमर्थ हूँ, तो इतने दूर की भागवती कथा को अभी कैसे सुन सकता हूँ, कैसे उसे बिना चेले की सहायता से लिख सकता हूँ। अतः पाठक मेरी विवशता समझकर मुझे हृदय से क्षमा कर दें, अपराधों का तो मैं भाजन ही हूँ, प्रतिक्षण नूतन नूतन अपराध करता ही रहता हूँ पाठक पाठिकायें अपनी उदारता से मेरे अपराधों को क्षमा कर दें। मुझे अपना ही एक पारिवारिक सम्बन्धी समझकर मेरे ऊपर कृपा दृष्टि की वृष्टि करते रहें। जब तक मैं फिर से सम्बन्ध स्थापित न करूँ, मुझे अपने से दूर न समझें। अब कुछ दिन श्री धाम वृन्दावन में अपने श्यामसुन्दर के निकट रहना चाहता हूँ। कुछ दिन बदरीवन में भगवान् बदरीनाथ की चरणसन्निधि में रहने की इच्छा है। चिरकाल से उनके दर्शनों की लालसा लगी है। वे दर्शन देते हैं या नहीं अपनाते हैं, या ठुकराते हैं इसे तो वे ही जानें। अपने तो इच्छा करने तक में स्वतंत्र नहीं। इच्छा कराने वाले भी वे ही हैं। अतः अपनी इच्छा का कोई मूल्य नहीं। इच्छा तो उन्हीं की सत्य है, क्योंकि वे अमोघइच्छा वाले हैं। अतः अन्त में मैं अपने पाठक पाठिकाओं से पुनः पुनः क्षम याचना

करते हुए अपने इस क्षुद्र वक्तव्य को समाप्त करता हूँ। सब मुझे आशीर्वाद दें मेरी कृष्ण चरणों में प्रीति हो, भगवान् नंदन के प्रति रति हो। धर्म में मति हो और सद्‌गति हो।

श्री कृष्णार्पणमस्तु

छप्पय

नाथ नारायन नाम गान नित रसना गावै।
सुखद साँवरो सरस रूप मन मेरो ध्यावै॥
लीला ललित ललाम लाल की लिखूँ लिखाऊँ।
सरस भूमि ब्रजमाहिँ निवसि परसादी पाऊँ॥
कथा भागवत के रसिक, पाठक दें आशीश अब।
नामगान प्रभु ध्यान में, बीतै मेरो समय सब॥

त्रिवेणी में नौका पर
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग
मिती आषाढ़ शुक्ला २ (रथयात्रा)
सं० २०१७ वि०

सबकी कृपा का पात्र
प्रभुदत्त

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीकृष्ण चरित

(भागवत चरित से पृथक् छप गयी)

श्री ब्रह्मचारीजी द्वारा रचित "भागवत चरित" का आशातीत प्रचार हुआ है। आठ हजार के दो संस्करण थोड़े ही समय में समाप्त हो गये। अब ५ हजार का तीसरा संस्करण छपा है। सहस्रों नर नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं। बहुत से "भागवत चरित व्यास" बाजे तबले से इसकी कथा करते हैं। अनेक स्थानों पर इसके १०८, १०८ के पारायण हुए हैं।

भागवत चरित बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इसमें लगभग एक हजार पृष्ठ हैं। सभी अवतारों तथा सूर्य और चन्द्र वंश के असंख्यों राजाओं के इसमें चरित्र हैं। कुछ राम भक्त श्रीरामचन्द्र जी का चरित पृथक् चाहते थे। इसलिये भागवतचरित से "राघवेन्दु चरित" पृथक् छापा गया है, जिसे राम भक्तों ने बहुत पसन्द किया, अब तक इसके चार संस्करण छप चुके हैं। गत वर्ष ही पाँच हजार का चौथा संस्करण छपा है। मूल्य पाँच आना मात्र है।

इसी प्रकार कृष्ण भक्त चाहते थे "श्रीकृष्ण चरित" पृथक् छप जाय उनकी इच्छा पूर्ति के लिये भागवत चरित से ही यह "श्रीकृष्ण चरित" पृथक् छापा गया है। छप्पय छन्दों में यह अनुपम श्री कृष्ण चरित है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, लावनी, भजन तथा विविध रागों के पद हैं। इस प्रकार यह नित्य पाठ करने को अनुपम ग्रंथ है। इसमें ७ विश्राम हैं ६० अध्याय हैं। ३५० से अधिक पृष्ठ हैं। रंगीन तथा सादे चित्र हैं। मूल्य २) दो रुपया है। अभी एक हजार का यह प्रथम ही संस्करण छपा है। शीघ्र मँगाइये।

पता—व्यवस्थापक, संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

प्रभु स्तुति भजन

(ब्रह्मचारी जी के पदों का सुन्दर संग्रह)

बहुत से भाई श्री ब्रह्मचारी जी के भजन तथा स्तुतियों का पृथक् संग्रह चाहते थे। भागवती कथाके छप्पय आदि तो भागवत चरित में आही गये हैं। ६० खंड के पश्चात् जो ६८ खण्ड तक के पद छप्पय स्तुति हैं, तथा भागवत चरित में जो नये पद हैं, उन सब का संग्रह "प्रभु स्तुति भजन" के नाम से पृथक् छापा जा रहा है। इसमें आपको एक साथ ही भक्ति भावपूर्ण भगवान् की स्तुतियाँ विविध रागिनियों में मिल जायँगी। भगवान् के अवतारों की, ज्ञान, वैराग्य चेतावनी तथा प्रबोध की बहुत सी स्तुतियाँ इसमें एक ही स्थानपर पढ़नेको मिलेंगी। पुस्तक छप रही है। विविध पदों में तथा भजनों में है। अभी से आप अपनी प्रति को सुरक्षित करालें। मूल्य लगभग १) एक रुपया होगा।

पता—व्यवस्थापक संकीर्तन भवन, झूसी, [प्रयाग]

ऐश्वर्य और माधुर्य की स्तुति

(भूमिका)

ब्रह्मानन्दरसादनन्तगुणितो रम्यो रसो वैष्णवः ।
तस्मात् कोटि गुणोज्वलश्च मधुरः श्रीगोकुलेन्द्रो रसः ॥
तस्मात् अप्यधिकं चमत्कृतिभरं वर्पदरसानां परम् ।
श्रीराधापदपद्ममेव मधुरं सर्वस्वभूतं मम ॥
(ब्रह्मयामले)

छप्पय

जग के सब आनन्द विषय रस सरिस न होवैं ।
पावैं ब्रह्मानन्द विषय विष समुझि न जोवैं ॥
वैष्णव रस मिलि जाय ब्रह्म रस फीको लागै ।
यदि मिल जावे मधुर भाग्य साधक को जागै ॥
मम सरवसु अतिशय मधुर, श्रीराधा के चरन हैं ।
जो सुन्दर सुखकर सरस, अरुन कमल वर वरन हैं ॥

संसार में चार ही सम्बन्ध होते हैं स्वामी सेवक सम्बन्ध, मित्र-मित्र का सम्बन्ध, छोटे बड़े का सम्बन्ध और प्रेष्ठ प्रियतमा का सम्बन्ध । ये ही सम्बन्ध जब भगवत् प्रेम मार्ग में किये जाते हैं, तो ये दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों के नाम से पुकारे

---

* विषयानन्द से ब्रह्मानन्द अनन्त कोटि मधुर है । ब्रह्मानन्द से भी अनन्त कोटि मधुर वैष्णव रस है । अर्थात् भगवान् में सख्य वात्सल्य दास्य कोई भाव स्थापित कर लेना । वैष्णव रस से भी कोटि उज्वल श्री व्रज-

जाते हैं। एक पाँचवाँ सम्बन्ध भी है जीव ईश्वर का सम्बन्ध, यह लोक में न होकर पर लोक में ही काम आता है, इसे शान्त भाव कहते हैं। ज्ञाननिष्ठ पुरुषों का कहना है दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये क्रम-क्रम से भगवान् में प्रेम बढ़ाने के लिये हैं, इन सब, का उद्देश्य यही है कि शांति लाभ करना, शान्त भाव में सदा भावित रहना, उनके मत में शान्त भाव ही चरम भाव है, किन्तु इसके विपरीत भक्ति भाव भावुक रसज्ञ भक्तों का कहना है कि शान्त भाव तो खेत को जोत गोड़ कर बीज बोने की तैयारी के समान है, मुख्य भाव तो माधुर्य भाव ही है शान्त भाव तो रस रूपी बीज को बोने के लिये क्षेत्र तैयारी के समान है। जब संसार से मुख मोड़ कर हम शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश करेंगे, तभी दिव्य रसों की अनुभूति हो सकती है। अतः शान्त भाव स्वयं रस नहीं है, वह तो रस सागर में प्रवेश करने की प्रथम सोपान है। रस सागर में बाढ़ आने पर कभी कभी सीढ़ी भी भीग जाती है, वहाँ तक भी कभी जल छलक आता है, इसीलिये शान्त की रसों में गणना है, नहीं तो दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये ही चार रस हैं, इन सब में दास्य ही प्रथम रस है, कोई भी रस क्यों न हो, उसमें छिपा हुआ दास्य अवश्य रहेगा। रस शास्त्र वाले ऐसा मानते हैं, कि सख्य वात्सल्य और मधुर में दास्य नहीं होता किन्तु ध्यान पूर्वक देखा जाय तो ऊपर से-बाह्य व्यवहार से तो वह दिखाई नहीं देता, किन्तु फल्गु की धारा के समान भीतर

चन्द्र नन्द नन्दन में मधुर भाव स्थापित करना है। उस मधुर भाव में भी सबसे श्रेष्ठ सर्वाधिक चमत्कृत सब रसों को प्रकट करने वाला मधुरातिमधुर रस- श्रीमती- वृषभानुदुलारी, कीर्तिकुमारी ब्रजउजियारी श्री राधाजी के अरुण चरण कमल का रस है, यही मेरा सर्वस्व है।

ही भीतर उसमें दास्य की धारा प्रवाहित होती रहती है। गया जी में गर्मी में जाइये फल्गु नदी में कहीं भी आपको धारा दिखाई न देगी, ऊपर से बालू ही बालू दिखाई देगी, किन्तु आप जब धैर्य के साथ उस बालू को तनिक हटावें, तो अन्तः स्रोत फल्गु का स्वच्छ जल दिखाई दे जायगा। ब्रज के बाल गोपाल श्री कृष्ण में सख्य भाव रखते थे, उनके साथ हँसते खेलते थे, उनके ऊपर चढ़ते थे, उन्हें जूठा खिलाते थे, किन्तु जहाँ तहाँ आपत्ति विपत्ति में अथवा करुणा के प्रसंग में उनका छिपा हुआ दास्य भाव प्रकट हो जाता था। नंदजी को जब वरुण के दूत पकड़ ले गये और श्रीकृष्ण उन्हें छुड़ा लाये तो सब का सख्य भाव शिथिल पड़ गया उन्हें ईश्वर मान कर और अपने को उनका दास मान कर उनसे सूक्ष्म गति दर्शन की प्रार्थना करने लगे।※

इसी प्रकार जब वन में गौ चराते समय दावाग्नि लग गयी, चारों ओर से बड़ी बड़ी लपटों वाली अग्नि ने ग्वाल बाल तथा गौओं को घेर लिया, तब भी उनका सख्य भाव विलुप्त हो गया और वे श्री कृष्ण बलराम को ईश्वर मानकर अपने को उनका दास समझकर उनकी शरण गये और प्रार्थना करने लगे—हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महावीर! हे अमित बलशाली बलराम जी! हम आपके शरणागत हैं, हम आपके दास हैं, हम इस वन की अग्नि से जलना

※ ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम्।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः
[illegible] (श्रीमा० १० स्क० २८ अ० ११ श्लो०)

ही चाहते हैं, आप हमारी इससे रक्षा कीजिये। हे कृष्ण! हम आपके बन्धु बान्धव भी हैं। हे सर्वधर्मज्ञ! हमारे आप स्वामी हैं, प्रभु आप ही हमारी एक मात्र गति मति हैं, हम सर्वथा आपके हैं, आपके कहा कर हम कष्ट पावें यह उचित नहीं। हमारी रक्षा करो। ❀

ऐसे समय पर सख्य छिप जाता है और दास्य उभड़ आता है। यही बात वात्सल्य के सम्बन्ध में है। बलराम जी नन्द जी यशोदा मैया, वसुदेव जी तथा देवकी जी और भी व्रज तथा मथुरा द्वारका के बड़े बूढ़े स्त्री पुरुष श्रीकृष्ण में वात्सल्य भाव रखते थे, किन्तु समय समय पर उनका भी दास्य भाव प्रकट हो जाता था। जैसे ब्रह्ममोहन के प्रसंग में जब बलदेव जी को यह ज्ञात हुआ कि बालक बछड़ों के वेष में एकमात्र श्री कृष्ण ही हैं, श्री कृष्ण ने ही बालक बछड़ों का वेष बना रखा है, तब तो उन्होंने कहा–यह कैसी अद्भुत बात है, ये जो अखिलात्मा भगवान वासुदेव हैं इन मे व्रजवासियों का जैसा अपूर्व प्रेम था आजकल वैसा ही स्नेह उनका अपने पुत्रों में भी बढ़ रहा है। यह कैसी माया है? कहाँ की माया है? कहाँ से आ गयी है? यह किसी देवता मनुष्य या राक्षस की माया तो हो नहीं सकती प्रतीत होता है यह मेरे प्रभु की-मेरे स्वामी श्रीकृष्ण की-ही माया है। क्योंकि किसी दूसरे की माया मुझे मोहित करने में

❀ कृष्ण कृष्ण महावीर्य हे रामामित विक्रम।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः॥
नूनंत्वद्बान्धवाःकृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम्।
वयं हिसर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥

(श्रीभा० १० स्क० १९ अ० ९,१०श्लोक)

समर्थ नहीं हो सकती। मैं भी इससे मोहित हो रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है, यह सब मेरे स्वामी का ही खेल है।*

अब आप देखेंगे जो बलराम बात बात पर श्रीकृष्ण को डाँटते डपटते रहते थे, वे ही श्रीकृष्ण के इस अद्भुत खेल को देख कर विस्मय में पड़ गये और उसी विस्मय की झोंक में वात्सल्य दब गया, दास्य प्रस्फुटित हो गया।

इसी प्रकार अम्बिकावन की यात्रा के प्रसंग में जब नंद जी के पैर को अजगर ने ग्रस लिया तब उनका वात्सल्य लुप्त हो गया और छिपा हुआ दास्य जाग्रत हो उठा, वे चिल्लाकर कहने लगे—अरे बेटा ! श्रीकृष्ण ! मैं शरणागत दास हूँ, मुझे यह अजगर निगले जा रहा है, मेरी रक्षा करो, इस संकट से मेरा उद्धार करो।*

इसी प्रकार जब उद्धव जी ब्रज में श्री कृष्ण का संदेश ले कर गये, तो नन्द जी ने आँखों में आँसू भर कर गद्गद कंठ से श्रीकृष्ण के प्रति अत्यंत ही भक्ति भाव प्रदर्शित करते हुए कहा था—"उद्धवजी ! श्रीकृष्ण के चरण चिन्हों से चिन्हित यह ब्रजमंडल की भाग्यवती अवनि, ये नदियाँ, पर्वत, वन तथा उनके

---

* किमेतदद्भुत मिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
ब्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते॥
केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥
(श्री भा० १० स्क० १३ अ० ३६, ३७ श्लो०)

* स च क्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम्।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय॥
(श्रीभा० १० स्क० ३४ अ० ६ श्लो०)

अन्य क्रीड़ा स्थलों को निहार निहार कर, हमारा चित्त कृष्णमय हो जाता है। इसी से मैं समझता हूँ, कि ये राम कृष्ण कोई देव श्रेष्ठ हैं, देवताओं के कार्यों को करने के निमित्त इन्होंने अवनि पर अवतार लिया है, गर्ग जी ने यह बात मुझसे पहिले ही कही थी * ऐसी बातें कोई पिता पुत्र के लिये नहीं कह सकता। यहाँ दास्य भाव प्रकट हो गया है, उसने वात्सल्य को दबा दिया है।

यही बात वसुदेव देवकी के सम्बन्ध में हैं। जब कंस को मार कर राम और कृष्ण माता पिता के समीप गये और उनके चरणों में प्रणाम किया, तो देवकी वसुदेव का पुत्र भाव लुप्त हो गया। ऐश्वर्य के आधिक्य से उनका वात्सल्य भाव विलीन हो गया, उन्होंने अपने पुत्रों को हृदय से चिपटाकर प्यार नहीं किया, अपितु दोनों उन्हें जगदीश्वर जान कर हाथ जोड़े खड़े रहे। * यह ऐश्वर्य की पराकाष्ठा ही है।

इसी प्रकार कुरुक्षेत्र से लौट कर जब द्वारका आ गये, तब भी वसुदेव ने मुनियों के वचनों को स्मरण करके, श्रीराम और

---

* सरिच्छैल वनोद्देशान्मुकुन्द पदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥

(श्रीभा १० स्क० ४६ अ० २२,२३ श्लो०)

* देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ।
कृत संवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥

(श्री भा० १० स्क० ४४ अ० ५१ श्लो०)

कृष्ण को साक्षात् ईश्वर समझ कर उनकी स्तुति की।❀ इसी प्रकार माता देवकीजी भी जो सदा वात्सल्य भाव में भावित रहती थीं, उन्होंने भी राम कृष्ण को ईश्वर मानकर और अपने को दास्य भाव की अधिकारिणी मान कर स्तुति की। ❀

जब उद्धवजी गोकुल से लौटकर पुनः श्रीकृष्ण के पास मथुरा जाने लगे, तो उन्हें विदा करने के लिये, श्रीकृष्ण के सखा ग्वाल बाल, उनके माता पिता नन्द यशोदा, मधुर भाव की उपासिका गोपिकायें सब के सब रथ के चारों ओर घिर आये। उद्धवजी का भी हृदय भरा हुआ था, वे स्नेह भरित नेत्रों से सब की ओर देख लेते फिर नीची दृष्टि कर लेते। इस पर सब की ओर से नन्द जी ने आंखों में अश्रु भर कर अपनी भावना व्यक्त की। नन्दजी ने कहा—"उद्धव ! अब हम तुमसे क्या कहें, श्री कृष्ण हमारे पुत्र बन कर रहे। हमने भी अपने [illegible] समझ कर ही उन्हें प्यार किया, किन्तु अब हमें ऐसा लगता है, कि श्रीकृष्ण तो ईश्वर हैं। अब हमारी एकमात्र अभिलाषा यही है, कि हमारे मन की समस्त वृत्तियाँ सर्वदा [illegible] श्री

❀ कृष्ण कृष्ण महायोगिन् [illegible] ।
जाने वामस्य यत् साक्षात् [illegible] ॥
यत्र येन यतो यस्य [illegible] ।
स्यादिदं भगवान् [illegible] ॥
(श्री [illegible])
राम रामाप्रमेयात्मन् [illegible] ।
वेदाहं वां विश्व[illegible] ॥
कालविध्वस्त[illegible] ।
भूमेर्भाराय[illegible] ॥
(श्री [illegible])

कृष्ण के चरणारविन्दों में लगी रहें, हमारी वाणी सदा उन्हीं के नामों का गान करती रहे, हमारी देह उन्हीं को नमस्कारादि करने में नियुक्त रहे। प्रारब्धवश-कर्मों के कारण-संसार चक्र में भ्रमते हुए ईश्वरेच्छा से हमारा जहाँ जहाँ भी-जिस जिस योनि में भी- जन्म हो, वहाँ पर ही हमारे मंगलमय शुभ कर्मों के द्वारा तथा दानादि के परिणाम स्वरूप हमें ईश्वर कृष्ण में रति हो श्री कृष्ण भक्ति प्राप्त हो, यही हमारी आकांक्षा है। *

दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर ये क्रम से एक दूसरे से बढ़ कर हैं। जैसे आकाश है, आकाश में एक गुण है शब्द। आकाश से स्थूल वायु है, वायु में शब्द तो रहेगा ही साथ ही उसमें स्पर्श और बढ़ जायगा। अतः वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण होंगे। वायु से स्थूल अग्नि है, अग्नि में शब्द, स्पर्श के साथ ही रूप भी रहेगा अतः इसमें तीन गुण हुए। अग्नि से स्थूल जल है, जल में शब्द, स्पर्श, रूप के साथ रस गुण भी रहेगा। सबसे स्थूल पृथिवी है, उसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस के साथ गंध भी रहेगी। इसका ठीक उलटा रसों के सम्बन्ध में है, जैसे दास्य भाव है, उसमें नम्रता सेवा भाव दीनता स्वामी के हित में तत्परता ये गुण रहेंगे। दास्य भाव का मुख्य स्थान

---

* मन सो वृत्तयो नः स्युः कृष्ण पादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गला चरितैर्दानै रतिर्नः कृष्णईश्वरे ॥

चरण हैं, अतः दास चरण सेवा करेगा चरण स्पर्श करेगा। दास्य से बढ़कर वात्सल्य रस है, इसमें दास्य तो छिपा हुआ रहेगा ही भीतर ही भीतर नम्रता अपने वत्स के सुख देने की इच्छा, उसकी सेवा करने की भावना तो रहेगी ही, किन्तु दास्य भाव में शासन नहीं होता वात्सल्य में शासन और बढ़ जायगा। दास ने कहा–'अमुक वस्तु खालो' तुमने कहा–'हम नहीं खाते' बेचारा दास अनुनय विनय करेगा इतने पर भी तुम न मानोगे वह चुप हो जायगा। किन्तु वात्सल्य में यह बात नहीं। पहिले तो अनुनय विनय करेंगे पुचकारेंगे, फुसलावेंगे, फिर भी तुम कहो, हम नहीं खाते, तो वे डांट कर कहेंगे, खाओगे कैसे नहीं खाना ही पड़ेगा। उसमें स्नेह और सेवा भाव के साथ शासन भी है। *वात्सल्य का मुख्य स्थान मुख है बच्चे का मुँह चूमना,* दोनों गालों को हाथ में लेकर दबाना, गालों को थप थपाना, मुख ही वात्सल्य का मुख्य स्थान है। वात्सल्य से भी अधिक सरस सख्य भाव है। इसमें दास्य वात्सल्य तो छिपा ही रहेगा, साथ ही सेवा, शासन के अतिरिक्त निर्भीकता इसमें और अधिक रहेगी। मित्र को चाहें जो कह दें, चाहें जैसे गाली दे दें, उसमें संकोच का स्थान ही नहीं सख्य का मुख्य स्थान बाहु तथा हृदय है, मित्र के पहिले हाथ को मरोड़ेंगे, तब उसे छाती से लगायेंगे, उसमें भय नहीं, संकोच नहीं, कोई लगाव दुराव नहीं। सख्य से भी बढ़कर मधुर भाव है, इसमें दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा मधुर सभी भावनायें विद्यमान रहती हैं। तनिक भी संकोच नहीं, भय नहीं, कोई बात अश्लील नहीं, कोई बात न कहनी नहीं, कोई भी अंग अस्पर्श नहीं, प्रेष्ठ का सर्वाङ्ग अपना ही है, भेद भाव की कोई बात नहीं। दास्य वात्सल्य और सख्य इसमें छिपा रहता है यही रस की पराकाष्ठा है। मधुर भाव में भी कभी कभी

दुःख और शोक में दास्य भाव प्रकट हो जाता है।

जैसे रास लीला प्रसंग में जब श्रीमती राधिकाजी को लेकर भगवान् श्रीकृष्ण जी अन्तर्धान हो गये और फिर उनको भी छोड़कर छिप गये। उस समय श्रीमतीजी ने अत्यंत ही आर्त स्वर में–अत्यंत ही शोक के आवेश में–विलाप करते हुए कहा था—"हे मेरे स्वामी! हे नाथ! हे रमण! हे प्रियतम! हा महाबाहो! तुम कहाँ हो? कहाँ छिप गये? प्यारे! इस दीना को, इस अपने चरणों की दासी को समीप में आकर अविलम्ब दर्शन दीजिये। *

ये वचन किसी साधारण मधुर रस की उपासिका व्रजाङ्गना के नहीं। महाभाव की पराकाष्ठास्वरूपा मधुर भाव की सर्वोत्कृष्टा नायिका श्रीमती राधा देवी के वचन हैं, इन सबसे यही सिद्ध होता है, कि दास्य भाव सभी भावों में गुप्त रूप से रहता ही है, जैसे शब्द गुण सभी भूतों में समान भाव से छिपा रहता है।

जैसे सब भावों के स्थान, कार्य, वर्ताव, बोलन, चलन, व्यवहार भिन्न भिन्न होते हैं। वैसे ही सब भावों की स्तुतियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। पाठक जितनी स्तुतियाँ पढ़ चुके हैं, या पढ़ेंगे, वे सबकी सब दास्य भाव की ही हैं, स्तुति दास्य भाव में ही संभव भी है। हम दास हैं, आप हमारे स्वामी हैं, ईश्वर हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, आप हम पर कृपा करो, दया करो, अनुकम्पा करो। यह बात नम्रता के साथ दास ही स्वामी के प्रति कह सकता है।

---

* हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥
(श्री भा० १० स्क० ३० अ० ३९ श्लो०)

वात्सल्य में भी स्तुति होती है, किन्तु उसमें पुचकार कर बड़े प्रेम से कहते हैं—"देख, यह काम कर ले, मेरा बड़ा राजा बेटा है। बड़ा वीर है, इसकी बराबर दूसरा कौन हो सकता है। तू इतना दूध पीले तब जानें। इतना माखन खालेगा तो सबसे राजा बन जायगा।' माता यशोदा श्रीकृष्ण की ऐसे ही स्तुति करती थीं। राजाओं को बन्दीगण उठाते हैं, तो उनके तथा उनके पूर्वजों के गुणगान करते हैं, उनके कार्मों की प्रशंसा करते हैं उन के गुणों का बखान करते हैं। माता यशोदाजी भी जब अपने कन्हैया को जगाती हैं तब कहती हैं—"कृष्ण! अरे तू अभी तक सो रहा है, तेरे साथी तो खा पीकर गौ लेकर गये भी, तू क्या अभी तक सोता ही रहेगा? बेटा! बड़ा राजा है, उठ पड़ मुँह धो, कलेऊ कर ले, गौयें तुरा रही हैं, वे वन में जाने को उत्सुक हैं, उन्हें ले कर जा। इतनी देर तक सोना यह क्या कोई अच्छी बात है।" इसी प्रकार श्रीकृष्ण जब क्रीड़ा में आसक्त हो जाते हैं, तन्मय होकर खेल में मग्न हो जाते हैं, भोजन आदि सब भूल जाते हैं, तो माता बड़े प्रेम से जाती हैं; उन्हें भोजन के लिये आह्वान करती हैं, उनकी यही स्तुति है। वे बड़े प्यार से कहती हैं।"कृष्ण! ओ कृष्ण! बोलता क्यों नहीं बेटा अर-विन्दाक्ष! अब तू दिनभर खेलता ही रहेगा क्या? अभी खेलनेसे तेरा पेट नहीं भरा? देखता नहीं कितना दिन चढ़ गया है, तैंने न कुछ अभी खाया है, न पीया है, वासे मुँह तब से खेल ही रहा है, खेलते खेलते थक गया होगा। देख कैसा तेरा मुँह निकल आया है, पेट पीठ में सट गया है, भूख के कारण दुबला हो गया है, आजा लल्ला! बड़ा राजा बेटा है। अब खेल बन्द करो भैया, अब चल कर दूध पीयो। मीठा मीठा मिश्री पड़ा मलाईदार दूध मैंने कमलगंधा गौ का रखा है। चल अब बहुत हुआ।

... बलदेव ! तू भी चल बेटा । मेरा बलराम भी कुल का दीपक है, पहिले खेलना तू बन्द कर, अपने छोटे भाई को भी समझा। इसका हाथ पकड़ कर दोनों भैया चलो। देखें कौन जल्दी चलता है। अभी तक तुमने कुछ खाया नहीं। प्रातः तड़के ही कुछ जल्दी में तनिक सा कलेऊ किया था, अब तो दोपहर हो गया है। तेरे बाबा भोजन के लिये बैठे हैं, तुम्हारा पैंड़ा देख रहे हैं,तुम्हारी बाट जोह रहे हैं, चलो चलो मेरी बात मानों। (और बच्चों से कहती हैं) बालको ! तुम सब भी अपने अपने घर जाओ। फिर श्री कृष्ण से कहती हैं—"कनुआ छिः छिः तू कितना गंदा हो गया है, सब शरीर में धूल लगी है तेरे कपड़े भी कितने मैले हैं, देख तेरे सब साथी कैसे सजे बजे स्वच्छ सुंदर कपड़े पहिने हैं। चल आज तेरा जन्मदिवस है, तुझे स्नान कराऊँगी, अच्छे कपड़े पहिनाऊँगी, फिर तू अपने हाथों ब्राह्मणों को गोदान करना उनकी पूजा करना।" इस प्रकार माँ फुसला कर अपने लाल को ले जाती हैं उस दिन भले ही श्रीकृष्ण का जन्म दिवस न भी हो, तो भी जन्म दिवस के समान उत्सव करती हैं, ब्राह्मणों को गौओं का दान करती हैं, ग्वाल गोपालों को मिष्टान्न खिलाती हैं, यही उनकी स्तुति प्रार्थना सेवा है।

भगवान् कुछ शब्दों के भूखे तो हैं नहीं। सरस्वती ही उनकी चेरी हैं, वे तो भाव के भूखे हैं उन्हें चाहे जिस सम्बन्ध को मान कर प्रेम भाव से भजो, वे प्रसन्न हो जाते हैं। अभी कुछ ही दिन पूर्व की बात है बरेली में भी ऐसी ही एक बुढ़िया माँ थी, वह भी श्री कृष्ण को अपना पुत्र मान कर सेवा करती थी। उसके यहाँ जो श्री कृष्ण की प्रतिमा थी, उससे ही वह बातें करती थी, और सुनते हैं,वे श्रीकृष्ण भी उनसे बोलते चालते थे,बहुत-सी प्रत्यक्ष बातें वे बताते थे, इन सबका किसी पिछले प्रसंग में उल्लेख किया गया

है। इस प्रकार वात्सल्य में फुसलाना डाँटना डपटना ही स्तुति मानी गयी है।

सख्य भाव में भी दास्य की भाँति 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' स्तुति नहीं की जा सकती उसमें व्यंग से, हँसी में सरलता के साथ कहा जाता है, जैसे गोचारण के समय बनमें सखागण श्रीश्यामसुंदर को कोमल कोमल पत्तों की शैया बनाकर सुला देते थे, कोई उनके पैर दबाते, कोई हँसी विनोद करते, कोई उनके बल की प्रशंसा करते। कोई कहते भैया तैंने बड़े बड़े असुर राक्षस तथा राक्षसियों को मार डाला, किन्तु इस भूख राक्षसी को नहीं मारा। यह डाँइन हमें बहुत पीड़ा पहुँचा रही है, हमारी इस भूख को तू और शांत कर दे, तू बड़ा बली अपने को लगाता है। कोई कहते—अमुक वन में बड़े सुंदर ताल के फल हैं कनुआ भैया, यदि उन्हें तू हमें चखादे, तब हम तेरा पराक्रम जानें।" ये सभी प्रार्थनायें ही हैं और इन सब में श्रीकृष्ण का महत्व सन्निहित है, तथा प्रेम ओत प्रोत है। प्रेम का ही नाम रस है। जैसे दूध है सामान्य गरम करके अनुपात की मिश्री मिला दी यह दास्य रस हो गया। दूध को तनिक और गाढ़ा करके मिश्री की मात्रा बढ़ा दी वात्सल्य हो गया। दूध को आधा जला दिया अधौटा करके उसमें मीठा और अधिक कर दिया यही सख्य हो गया। उसीको ओटाते ओटाते रबड़ी बना दी जमे हुए लच्छे खुरच खुरच कर उसमें डाल दिये मीठा आधे आधका मिला दिया बस यही मधुर रस है, देखते ही जीभ में से पानी बहने लगे, यदि जीभ पर रख दिया जाय तो क्या कहना है। अब इसके भी संस्कार कर लिये जायँ, तनिक केवड़ा या गुलाब जल का सत् मिला दिया जाय इलायची, जावित्री, केसर, कस्तूरी जायफल मिला दिये जायँ, सोने चाँदी के वरक लगा दिये जायँ, यही निकुंज रस हो गया।

इसमें रूप रंग का भेद भले ही हो जाय किन्तु दूध और चीनी पदार्थ सबमें एक ही है। गाढ़ापन और माधुर्य के आधिक्य से ही इनके नाम और स्वाद में आनंद आता है।

दास लोग जो वार वार दंडवत करते हैं, पैरों में पड़े रहते हैं इसमें भी सुख है, किन्तु माता जो एक प्रेम का चपत लगा देती है, उसके सम्मुख दास्य का समस्त सुख तुच्छ है। माता की अपेक्षा सखागण जो ऊपर चढ़ जाते हैं, कसकर छाती से चिपटा लेते हैं, उसका स्वाद ही विलक्षण है, जो मुख में आया वही कह दिया, गाली भी दी और इच्छा हुई तो पैर भी छू दिये ईश्वर भी कह दिया और मन में आई तो युद्ध के लिये ललकार भी दिया, किचकिचाय के ऊपर भी चढ़ बैठे "खेलन में कोका को गुसैयाँ।" यही सख्य का रस है।

सख्य की बहुत सी कथायें हैं। अभी लगभग १०,१५ वर्ष पहिले की ही बात है, व्रज में वर्षा नहीं हुई अकाल पड़ गया। गैयाँ आदि पशु भूखों मरने लगे। सर्वत्र त्राहि त्राहि मच गयी। उसी समय नन्द गाँव की ओर से कंधे पर लट्ठ रखे एक गाँव का गँवार ग्वाला आया। वह सीधा बाँकेविहारीजी के मंदिर में घुस गया। वहाँ जाकर न दंडवत न प्रणाम। उसने विहारी जी को गाली देना आरंभ किया। ऐसी ऐसी बुरी गाली दी कि दर्शक चकित रह गये। परन्तु किसी का कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। सब जानते थे वह भावावेशमें है, भीड़ लग गयी, लोग खड़े खड़े उसके मुख की ओर देखें। उसकी दृष्टि विहारीजी की ही ओर थी, अन्य किसी को वह देखता ही नहीं था। दाँतों को किट किटा कर कहता—"सारे, यहाँ बैठा है तेरी गैयाँ मर रही हैं। अपने को ईश्वर बताता है, पानी नहीं बरसाया जाता। सब गैयाँ मर जायँगी, तो तू खायगा क्या? दूध कहाँ से आवेगा?

मक्खन कहाँ से आवेगा ? ऐसा कहे और बड़े जोर से बिलख बिलख कर रोवे। फिर रोते रोते प्रार्थना भी करने लगे। देख, मैया ! तू मान जा मेरी बात, पानी बरसा दे। इन्द्र तेरी इतनी बात भी नहीं मानेगा। पहिले तैंने सुना गोवर्धन धारण किया था। फिर कुछ कहे फिर गाली देने लगे। लाठी को यों यों करके घुमावे, फिर लोट जाय, फिर दंडवत करे, फिर गाली देने लगे। इस प्रकार वह लगभग घन्टा पौन घंटा तक अपने ढँग से बिहारीजी की स्तुति करता रहा। जिन दर्शकों ने इस घटना को प्रत्यक्ष देखा है, उनका कहना था कि उस समय आकाश स्वच्छ था, एक भी मेघ का चिन्ह नहीं था। क्षण भर में ही क्या चमत्कार हुआ कि एक छोटी-सी बदली आई शनैः शनैः वह बढ़ने लगी। घटायें छाने लगीं और वह जोरका जल गिरा कि वसुन्धरा समस्त जलमग्न हो गयी। सबके सब दर्शक सख्य रस के अम्बु से सराबोर हो गये। घंटे दो घंटे खूब जल गिरा, वह पट्ठा अपनी लाठी कंधे पर रख कर यह गया वह गया। जहाँ से आया था वहीं सीधा चला गया। इसी का नाम सख्य रस है, यह सिखाने से नहीं आता। जिसे श्यामसुन्दर सखा कहकर वरण कर लेते हैं, वही उनका सखा हो जाता है "यमेव वृणुते तेन लभ्यः"

मधुर रस की स्तुति और भी विलक्षण है। वहाँ कितव ! धूर्त ! ठगिया, छली, चितचोर ये ही सर्वश्रेष्ठ सम्बोधन समझे जाते हैं। भगवान् उतने प्रसन्न सर्वस्व वेद की ऋचाओं से नहीं होते, जितने व्रजसीमन्तिनी भाग्यवती ऋचाओं की ही मूर्ति उन व्रजाङ्गनाओं की मीठी गालियों से होते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण गोपिका गीत है। गोपिकागीत में मधुर भाव का जितना उत्कृष्ट उदाहरण है, उतना विश्व साहित्य में मधुर रस का सर्व श्रेष्ठ उदाहरण खोजने पर भी स्यात् कहीं मिले। यहाँ

गोपिका गीत की व्याख्या करने का मेरा उद्देश्य भी नहीं और स्थान भी नहीं। ये सब रस सम्बन्धी बातें तो भगवान् ने लिखायीं तो कभी समयानुसार विस्तार के साथ लिखी जायँगी।

यह प्राणी संसार में आकर सबसे पहिले आहार की चिन्ता करता है चाहे पशु हो, पक्षी हो, अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज सबको ही आहार चाहिये। "आहारनिद्रा भयमैथुनं च सामान्य-मेतत् पशुभिर्नराणां" आहार के पश्चात् जब पेट भर गया तो विषय सुख की इच्छा होती है। विषय की इच्छा भी पशु पक्षी मनुष्य स्त्री पुरुषों में समान रूप से होती है। एक विषय सामग्री को अपनी ही मानकर उसपर अपना ही जो अधिकार जमा लेता है, उससे दूसरे स्वभावतः द्वेष करने लगते हैं, उसका अनिष्ट करना चाहते हैं, द्वैतभाव स्थापित कर लेते हैं। दूसरों से भय होता ही है, भय से रक्षा पाने के लिये प्राणी विविध उपाय करता है, रहने का स्थान बनाता है, भय निवारण की सभी सामग्री जुटाता है। इतना तो सभी प्राणी करते हैं, अब मनुष्य अपने को बुद्धिमान लगाता है, तो वह इस लोक के अतिरिक्त परलोक पर विचार करता है, सामान्य शक्ति से भी परे महानशक्ति (परमात्मा) की खोज करता है, उनका चिंतन करता है। भगवान् को मानना यही मानवता है। यदि भगवान् को न माने केवल आहार निद्रा, भय और मैथुन में ही समय व्यतीत कर लें, तो मानव की मानवता क्या रही, बुद्धि का सदुपयोग क्या हुआ। अपनी बुद्धि से आहार की और मैथुन की खोज तो सभी प्राणधारी कर लेते हैं। ईश्वर को जो माने वही मानव। इससे सब लोग ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करते हैं, वही स्तुति प्रार्थना वेद कही जाती है।

प्रत्येक वस्तु के रचनात्मक और ध्वंसात्मक दो पहलू होते हैं। मानव स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, जितने मनुष्य उतने

स्वभाव। ईश्वर के सम्बन्ध में भी दो धारायें बहीं । कुछ लोगों ने कहा—हम ईश्वर को क्यों माने ? ईश्वर को मानने से क्या होता है ? यदि हम ईश्वर को न माने तो देखें ईश्वर हमारी जीभ काट दे, हमारा हाथ पैर तोड़दे।" वे ईश्वर का निषेध करने लगे। निषेध करने पर भी न तो उनकी जिह्वा गिरी न हाथ पैर ही ईश्वर ने तोड़े। तब तो वे ललकारकर डंके की चोट कहने लगे— "वेदों को स्वार्थी धूर्तों ने रचा है, कुछ धूर्त हैं, कुछ भांड हैं कुछ निशाचर हैं, इन सबने तीन वेदों को बनाया है, ईश्वर कुछ नहीं परलोक कुछ नहीं, श्राद्धतर्पण स्तुति प्रार्थना कुछ नहीं। खाओ पीओ विषय सुख भोगो। जब तक शरीर है तभी तक सुख है, शरीर के अन्त होने पर भूत भूत में मिल जायँगे, कुछ भी न रहेगा।" इसपर सर्वप्रथम तर्कों द्वारा ईश्वर का नास्तित्व सिद्ध करने की चेष्टा हुई। उसी विचार का नाम दार्शनिक हुआ उसने बुद्धि से अन्वेषण किया, देखा, साक्षात्कार किया कि ईश्वर नाम का कोई जन्तु नहीं है।

बुद्धि कुछ "नास्ति" मानने वालों के ही भाग में थोड़े ही आ गयी थी, बुद्धि तो सबके पास थी, कुछ लोगों ने उनकी तर्कों का खंडन किया और उन्होंने बुद्धि द्वारा यह सिद्ध किया कि ईश्वर है। वास्तव में ईश्वर कोई तर्क से सिद्ध होने वाली वस्तु तो है नहीं। वह तो श्रद्धा की, भावना की, विश्वास की, भक्तिभाव की वस्तु है, किन्तु लोहा लोहे से ही काटा जा सकता है, तर्क की बात तर्क द्वारा ही काटी जानी चाहिये। इसलिये आस्तिक नास्तिक दोनों ही दर्शनों की कसौटी तर्क है, जिसकी तर्क जिससे प्रबल बैठ जाय वही जीता, दूसरा हारा। इस प्रकार आस्तिक नास्तिकों का तर्क युद्ध होने लगा। जब तर्क को लोग बुरा न मानने लगे तब तो सगुण निर्गुण का विवाद चला। तब

भिन्न भिन्न वाद चले। भिन्न-भिन्न वादों के भिन्न भिन्न मुनि हुए। उनके नाम से वादों का नामकरण हुआ।

भगवान् तर्क के विषय नहीं श्रद्धा के विषय हैं, श्रद्धावान् ही उनके ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। भगवान् को मानो। क्यों मानें? इसीलिये कि मनुष्य को उन्हें मानना चाहिये। नास्तिक भी उन्हें मानता है किन्तु वह नहीं साथ में लगाकर मानता है। आस्तिक कहता है—"ईश्वर है" नास्तिक कहता है "ईश्वर नहीं है।" है, इसे दोनों ही स्वीकार करते हैं, एक आस्तिक भावसे दूसरा नास्तिक भाव से। किन्तु फिर भी नास्तिक से आस्तिक सरस है, आस्तिक से भी निर्गुण निराकार रूप भगवान् का मानने वाला सरस है, उससे भी सरस वह सगुण उपासक है जो भगवान् का रूप मानकर उनके हाथ, पैर, आँख, मुख, नाक मानकर उन्हें वस्त्राभूषण पहिनाता है, भोग लगाता है, आरती करता है, सदा सेवा पूजा में सन्नद्ध रहता है। प्रातः मङ्गला से लेकर सायंकाल शयन आरती तक विविध सेवा में तत्परता के साथ लगा रहता है। उससे भी भाग्यशाली सरस वे हैं जो भगवान् को अपना पुत्र मानकर लाड़ लड़ाते हैं, उनकी सदा साज सम्हाल देख रेख करते हैं। उनसे भी सरस वे हैं जो कृष्ण को अपना सखा समझ कर उन्हें मल्लयुद्ध के लिये चिनौती देते हैं। निधड़क उन्हें अपना जूठा खिलाते हैं। कुछ अपने को श्रीकृष्ण से बड़ा सखा समझते हैं, कुछ बराबर का सखा कुछ अपने से बड़ा सखा। जो भगवान से अपने को बड़ा मानते है, उनमें सख्य के साथ वात्सल्य अधिक रहता है।

अयोध्या में एक ब्राह्मण थे। वे वसिष्ठ गोत्रीय थे, गुरुवंश के होने के नाते वे रामजी को अपने से छोटा मानते थे। बाजार से अच्छी से अच्छी माला खरीद कर लाते स्वयं उसे पहिनकर

कनकभवन में आते और अपने गले से माला उतारकर कनकभवन के ठाकुरजी को पहिना देते। जो दास्य भाव के उपासक सन्त थे, उन्हें यह बात बहुत ही बुरी लगती थी। वे पंडितजी को अभिमानी समझने लगे, भीतर के भाव को तो भगवान् ही समझते हैं दूसरे लोग तो बाहरी आचरण को ही महत्त्व देते हैं। जब सन्तों पर यह बर्ताव नहीं देखा गया, तब सबने उनसे बड़ी नम्रता से कहा—"पंडितजी! आपका चाहें जो भाव रहा हो, भगवान् के साथ ऐसा बर्ताव उचित नहीं। हम लोगों को इससे बड़ा कष्ट होता है।"

पंडितजी ने संभ्रम के साथ कहा—"महात्माओं! मेरा कोई अन्यथा भाव नहीं था, हम लोगों की स्तुति करने का ढँग यही रहा है, भगवान् ने सदा हमसे आशीर्वाद ही चाहा है और उनका रुख समझकर हम उन्हें आशीर्वाद ही सदा से देते आये हैं। यदि आपको इससे कष्ट होता है, तो कल से मैं ऐसा नहीं करूँगा। कल से अमनिया ही माला चढ़ाया करूँगा।

दूसरे दिन पंडितजी अमनिया माला लेकर गये, तो भगवान् ने उनकी अमनिया माला स्वीकार नहीं की। सेवाधिकारी को रात्रि में स्वप्न हुआ—पंडितजी की तो हमें प्रसादी ही माला प्रिय है।"

भगवान् की तो सनातन की प्रतिज्ञा है कि भक्त मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसे उसी भाव से भजा करता हूँ अतः सख्य में जो सरसता है, वह अन्य रस में कहाँ हो सकती है।

सख्य से भी सरस सुखद मधुर भाव है, मधुर तो फिर मधुर ही है, उस मीठे के सम्बन्ध में अब क्या कहें। मधुर में भी गोष्ठ की लीला उससे भी मीठी वन की लीला, उससे भी मीठी कुंज की लीला, और उससे भी बढ़कर निकुंज की लीला। निकुञ्ज की अति रहस्यमयी लीला तो मधुर रस की परमकाष्ठा गति है, अन्तिम गति है। उसमें प्रियतम को सुखी बनाने की परम व्याकुलता है, प्यारे को कष्ट न हो, मैं अपना सर्वस्व समर्पित करके अपने प्राणवल्लभ को रिझाऊँगी, सुखी बनाऊँगी। उनको किसी भी कारण से किसी प्रकार का भी कष्ट न हो। गोपीगीत के अन्त में अपनी भावना को व्यक्त करते हुए गोपिकायें गा रही हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रियदधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

स्त्रियों का सबसे गुह्य मर्म सुकोमल और परम लज्जामय स्थान हृदय है, उसे केवल पति ही स्पर्श कर सकता है, या पति स्वयं उसके उदर से आत्मज बनकर उसका स्पर्श कर सकता है। अन्य पुरुष के स्पर्श करने की तो बात ही क्या उसे दृष्टि उठाकर देख भी नहीं सकता।

व्रजाङ्गनायें कह रही हैं—"नाथ! हमें अपने लिये कोई दुख नहीं। जब हम अपना तन, मन, धन; मन, बचन, करम सभी आपको समर्पित कर चुकीं, तो अपने दुख सुख की चिन्ता तो कर

ही कैसे सकती हैं। हम तो अपने प्राणों को भी एकमात्र आपके ही निमित्त धारण करती हैं। हमारा जीवन धारण करना सर्वथा आपके ही लिये हैं। हमारे जीवन के आधार जो अति कोमल, अति सुखद, परम सरस, कमल के भीतर की कोमल कोमल पंखुड़ियों से भी अधिक कोमल अरुणवरण के जो चरणारविंद हैं, हम तो उनकी ही दुर्गति को स्मरण करके अत्यंत व्यथित हो रही हैं। वे इतने कोमल हैं, कि जब उन्हें हम अपने हाथों से उठाकर अपने हृदय पर रखती थीं, तो हमारे रोयें खड़े हो जाते थे, हम सोचती थीं, कहाँ हमारे ये अत्यंत कर्कश कठोर कुच और कहाँ ये परम सुकोमल चरणारविन्द। हम अत्यंत ही भयभीत होकर बहुत हौले होले-धीरे से-उन्हें हृदय पर रखती थीं, इतने से ही वे रक्त वर्ण के चरणारविन्द और भी अधिक रक्त वर्ण के बन जाते थे, हमारे हृदय की कठोरता को वे सहन ही नहीं कर सकते थे। हाय! आज वे ही चरणारविन्द बिना किसी आवरण के नंगे ही कठिन अवनि पर विचरण कर रहे होंगे। वृन्दावन की अवनि तो हमारे हृदयों से भी अधिक ऊबड़ खाबड़ कठिन और कर्कश है। हम अपने हृदयों पर उन पद पंकजों को धारण करती थीं, तो कुंकुम आदि का लेप कर लेती थीं जिससे कठोरता कम कष्टप्रद प्रतीत हो, किन्तु आप तो उन युगल कमल चरणों से वैसे ही सूखी अवनि पर विचर रहे होंगे। इस बात को स्मरण करके रह रहकर हमारा हृदय भर आता है, हमारी बुद्धि विमोहित हो जाती है। हे प्राणवल्लभ! हमारे ऊपर कृपा करके उन सुकुमार चरणों को अब अधिक कष्ट मत दो। अब आ जाओ।

यही मधुर भाव की स्तुति है। इन स्तुतियों के पश्चात् "भागवत दर्शन" के ये ही विषय हैं, इन पर कैसा और कब प्रकाश डाला जायगा, इसे यही रसिक चूड़ामणि रासिकेन्द्र शेखर श्यामसुंदर ही जानें। हम तो उनके यन्त्र हैं। बस आज इतना ही, अब पाठक गण स्तुतियों को ध्यानपूर्वक पढ़ें सुनें यही सबसे मेरी विनय है। भगवान् सभी का भला करें, सभी को अपनी अहैतुकी भक्ति प्रदान करें। सभी के मन शुद्ध हों, सभी मुझे भक्ति का आशीर्वाद दें। मंगलानु शासन करें।

छप्पय

प्यारे हित मन प्रान बचन तन धन सब होवैं।
प्यारे को मुख कमल प्रेम तैं पल पल जोवैं॥
प्यारे कूँ सुख मिलै करैं कारज सोई नित।
प्यारे में ही लग्यो रहै अविरल चंचल चित॥
प्यारे के सुख में सुखी, प्यारे को दुख देइ दुख।
प्यारे में ही भाव सब, प्यारे में सब निहित सुख॥

कुरुक्षेत्र में मुनियों द्वारा भगवान् की स्तुति

(११३)

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयम्,
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ़ ईहया
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥
(श्रीभा० १० स्क० ८४ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

प्रभु की इस्तुति मुनिनि लोक शिक्षा हित जानी ।
हरि ने जो कछु कही लोकसंग्रह ही मानी ॥
बोले—तुम सरवज्ञ करो नर लीला प्रभुवर ।
करि सब कछु नहिँ करो पुरातन पुरुष परावर ॥
बरनाश्रम रक्षक विभो, धरम हेतु अवतार धरि ।
बिप्रनि आदर देहु तुम, अतिशय अनुनय विनय करि ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए मुनिगण कह रहे हैं—"जिन प्रभु की माया से तत्त्व ज्ञानियों में श्रेष्ठ हम भी विमोहित हो रहे हैं, तथा विश्व को सृजन करने वालों के भी अधीश्वर प्रजापतिगण मोहित हो गये हैं जो अपनी गूढ़ चेष्टाओं से ईश्वर होकर भी जीववत व्यवहार कर रहे हैं, अहो उन भगवान् की चेष्टायें बड़ी ही विचित्र हैं।

भगवान् की जितनी भी स्तुति की जाय, उतनी ही न्यून है, कारण कि भगवान् तो सर्व गुणालय हैं। स्तुति में हम यही तो कहते हैं, आप ऐसे हैं वैसे हैं, आपमें ये गुण हैं, वे गुण हैं, किन्तु भगवान् तो सर्वगुण निधान हैं, अतः उनकी प्रशंसा की ही नहीं जा सकती और बिना प्रशंसा किये कोई रह भी नहीं सकता। अतः ऋषि मुनि तथा सभी प्रकार के भक्त भगवान् की स्तुति ही किया करते हैं, प्रभु की स्तुति, विनय, प्रार्थना करना यही उनके जीवन का लक्ष्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने कुरुक्षेत्र में अपने डेरे पर पधारे हुए ऋषि मुनियों की स्तुति की, तब ऋषि मुनि भगवान् की स्तुति करते हुए कहने लगे—"प्रभो ! आपकी माया अपरम्पार है। उसका पार पाना प्राणियों के लिए बड़ा ही दुष्कर है। साधारण प्राणियों की तो बात क्या जितने प्रजापति उनके अधीश्वर मरीचादि मुनिगण या साक्षात् ब्रह्मा जी भी आपकी माया से विमोहित बन जाते हैं। हम लोग अपने को तत्व ज्ञानियों में श्रेष्ठ समझते हैं। किन्तु हम लोग भी आपकी मोहिनी माया के चक्कर में पड़ जाते हैं। आप सर्वेश्वर हैं, सर्वात्मा हैं सब कुछ करने में समर्थ हैं। यह सब होने पर भी आप साधारणबद्ध जीवों के समान चेष्टा करते हैं। अपने को परतन्त्र बताकर हम लोगों की स्तुति विनय कर रहे हैं। धन्य है आपकी लीला को। बलिहारी है ऐसे अभिनय की। आपकी क्रीड़ा को कोई समझ नहीं सकता।

प्रभो ! जैसे पृथिवी कहीं काली हो जाती है, कहीं भूरी हो जाती है, कहीं लाल हो जाती है, कहीं सुगन्ध युक्त बन जाती है, कहीं दुर्गन्ध वाली हो जाती है। पृथिवी तो एक ही है, किन्तु विभिन्न पार्थिव पदार्थों के नाना रूप वाली सी दिखाई देती

है, जिनके कारण उसका रूप कुछ का कुछ हो जाता है। वे पदार्थ भी पृथिवी के ही हैं। इसी प्रकार आप इस चित्र विचित्र जगत् की स्वयं ही रचना करते हैं, स्वयं ही पालन करते हैं और स्वयं ही संहार भी करते हैं, स्वयं चेष्टा भी नहीं करते फिर भी सब कुछ होता है और आप ज्यों के त्यों निर्लिप्त के निर्लिप्त भी बने रहते हैं। कैसी अद्भुत है आपकी लीला। आप सर्व-व्यापक का यह चरित्र विचित्र है, परम पवित्र है, लीला मात्र ही है।

प्रभो! आप किसी भी प्रकार प्राकृत नहीं सदा सर्वदा प्रकृति से परे ही रहते हैं, आप परमात्मा हैं परम पुरुष हैं, सनातन हैं, पुराण पुरुष हैं। निर्गुण निराकार हैं। यह सब होने पर भी आप समय समय पर शुद्ध सत्वमय शरीर धारण करके अवतार भी लेते हैं। भाँति भाँति की क्रीड़ा करते हैं। दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन भी करते हैं। अपने अद्भुत अलौकिक आचरणों से सनातन वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं, वेद मार्ग की रक्षा करते हैं और वर्णाश्रम धर्म का अभ्युदय करते हैं, क्योंकि गुणकर्म स्वभाव से चारों वर्णों की रचना आपके ही द्वारा हुई है। आप इसके आत्मा हैं आधार हैं।

भगवन्! आप ज्ञानमय हैं। वेद आपका हृदय है और उस वेद को ब्राह्मण धारण करते हैं। इसीलिये ब्राह्मण सबसे अधिक पूजनीय माने जाते हैं और आप भी उनका आदर करते हैं। वेदों के ही द्वारा कार्यरूप, कारणरूप, व्यक्तरूप और अव्यक्तरूप—तथा कार्य कारण से विलक्षण विशुद्ध सत्स्वरूप आपकी उपलब्धि होती है। आपके स्वरूप की उपलब्धि वेदों द्वारा ही संभव है। वेदों का अधारभूत आपका सत्स्वरूप है। अन्य उपायों से वह हो नहीं सकती। उन वेदों की जो प्राणों के

समान रक्षा करते हैं, उनका सम्मान सबको करना ही चाहिये। आप स्वयं आचरण न करेंगे तो दूसरे कैसे कर सकते हैं। आप स्वयं अनुकरण करके दिखाते हैं, इसीलिये आप सबसे बड़े ब्रह्मण्यदेव हैं। ब्राह्मणों के भक्तों में आप सर्वोपरि हैं, अग्रगण्य हैं।

स्वामिन्! संसार में जितने भी मंगल हैं, जितने भी कल्याण हैं, उन सब की अवधि आप ही हैं। संतों के सज्जन पुरुषों के एक मात्र आश्रय आप ही हैं, आप ही उनकी परम गति हैं। प्रभो! मानव जन्म धारण करने का परम फल यही है, कि आप के दर्शन हो जायँ, जिस जन्म में जीव को आप के दर्शन नहीं हुए वह जन्म व्यर्थ है। विद्या वही है जो संसार से हटाकर आप के चरणों में पहुँचा दे। विद्या की सार्थकता आपके दर्शनों में ही है। यदि सर्वशास्त्रों का विद्वान भी है, किन्तु आपसे विमुख है, आपके दर्शनों के लिये प्रयत्नशील नहीं है, तो उसकी विद्या व्यर्थ है। जिसकी विद्या केवल पेट भरने का साधन मात्र ही है उसकी विद्या में और अविद्या में अन्तर ही क्या रह गया। विद्या वही सची है जो आप का साक्षात्कार करा दे।

बहुत से लोग संसारी विषयों का परित्याग करके नित्य निरन्तर तप में ही निरत रहते हैं, किन्तु यदि वह तप संसारी भोगों के पाने के लिये या स्वर्गीय सुखोंके निमित्त है, तो वह तप निरर्थक है। वह तो अल्प भोगों से बहु भोग, साधारण भोगों से दिव्य भोग प्राप्त करने का साधन मात्र है। तप का एकमात्र उद्देश्य आप के दर्शन ही होना चाहिये। जो तपस्या करके केवल आपके दर्शन ही चाहते हैं, उन्हीं का तप यथार्थ तप है। स्वामिन्! यही बात ज्ञान के सम्बन्ध में है। ज्ञान का फल मुक्ति है, आपके चरणों में अनन्य भक्ति है। ज्ञान से आप के दर्शन हो जायँ, तो

वह यथार्थ ज्ञान है और यदि उससे घट पट और पंचभूतों के मिश्रण से नाना भाँति की भोग सामग्री निर्माण का ही कार्य लिया जाय, तो वह ज्ञान तो अज्ञान के ही समान है।

प्रभो! हम सब मुनि गण तपोधन कहलाते हैं। उत्तम कुल में हमारा जन्म हुआ है, हम चिरकाल से विद्या, तपस्या तथा ज्ञान के अर्जन में लगे रहते हैं। आज आप के देव दुर्लभ दर्शनों से ही उत्तम कुल का जन्म लेना, विद्याभ्यास, तपस्या, तथा ज्ञानार्जन का प्रयास ये सबके सब सफल हो गये। प्रभो! जैसे सूर्य अपने से ही उत्पन्न मेघों द्वारा ढक जाते हैं, ऐसे ही आपकी महामहिमा भी आप से उत्पन्न योग माया द्वारा आच्छादित है। आप अपने ओज, तेज प्रभाव और भगवत्ता को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भला सूर्य कहीं छिप सकता है आप तो स्वयं प्रकाश हैं, अकुण्ठ बुद्धि वाले हैं, ऐसे आप श्री कृष्ण रूप में अवतीर्ण परब्रह्म परमात्मा के पाद पद्मों में प्रणाम है।

हे महामहिम! आप अपने को जताना नहीं चाहते, आप योग माया की यवनिका में छिपे रहते हैं। आप परमात्मा हैं, सब में समान रूप से व्यापक हैं। इस दृश्य प्रपंच के सर्वादि कारण हैं, इसका संचालन भी आप के द्वारा हो रहा है, किन्तु हो रहा है पर्दे की ओट से। जैसे कठपुतलियाँ सब नाचती तो नचाने वाले के संकेत से ही हैं, किन्तु उनका नचाने वाला सूत्र को पकड़े सूत्रधार यवनिका के भीतर बैठकर सबको संकेत करता है। तभी वे नाच सकती हैं। इसी प्रकार इस जगत का नियन्त्रण आप के द्वारा ही हो रहा है। आप ही इस जगत के कर्ता भर्ता संहर्ता हैं, इतना सब होने पर भी आप ऐसे छिपे हुए हैं, कि ये राजा गण आप को अपने ही समान साधारण क्षत्रिय और

ही मानते हैं। और की तो बात ही क्या जिनके कुल में आपने जन्म धारण किया है जो शैया, शयन, स्नान भोजनादि में सदा आप के साथ रहते हैं, वे भी आपको जान नहीं पाये हैं, ये भी आप को अपने कुल का एक श्रेष्ठ व्यक्ति ही समझते हैं।

हे देव! जिनकी विवेक शक्ति अज्ञान से आच्छादित हो गयी है। वे लोग भला आप के तत्व को कैसे जान सकेंगे। उनका चित्त तो इन्द्रियों को-माया के कारण-प्रिय लगने वाले विषयों में ही भटकता रहता है। ये संसारी विषय स्वप्न के समान हैं। जैसे स्वप्नावस्था में पुरुष राज्य, स्त्री, धन, वैभव वाहन आदि नाना पदार्थों को देखता है, उनका उपभोग करता है। सुख दुख का अनुभव करता है। उसका जो एक काल्पनिक इन्द्रियों वाला स्वप्न देह है उस समय उसे ही सत्य समझने लगता है। जो स्थूल शरीर शैया पर पड़ा है, उसका उसे स्मरण ही नहीं। जिन पदार्थों को स्वप्न में देखता है उन्हीं को सत्य समझता है। इसी प्रकार जागृत अवस्था भी एक स्वप्न ही है। अन्तर इतना ही है कि यह स्वल्प कालीन स्वप्न है यह दीर्घ कालीन स्वप्न है। पंचभूतों का बना यह देह भी स्वप्न देह के सदृश ही है। जैसे शैयापर पड़े यथार्थ स्थूल देह को स्वप्नाभिमानी भूल जाता है उसी प्रकार आप जो यथार्थ देही हैं उसे भूलकर जीव विषयों में सुख खोजता फिरता है, यही इस जीव का अज्ञान है। यथार्थ सुख तो आप के चरणारविन्द के मकरन्द पान में है।

हे रमारमण! मुनि जन चिरकाल की समाधि में आपके पादपद्मों का ही प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं। भक्तों के एक मात्र आश्रय ये श्री-चरण ही तो हैं। ये ही पाप पहाड़ों को ढहा

देने वाले हैं। इन्हीं पाद पद्मों से कलिमल हारिणी, जगदुद्धारणी, समस्त अघविनाशिनी त्रिभुवन तारिणी श्री गंगा जी प्रकट हुई हैं। उन्हीं चरणारविन्दों का आज दर्शन पाकर हम कृतकृत्य हो गये। प्रभो! हम आपकी शरण में हैं, हम आपके प्रपन्न हैं, हम शरणागत भक्तों पर कृपा कीजिये। हमें अपने चरण कमलों की भक्ति प्रदान कीजिये। प्रभो! यह अभिमान ही हमें आपके पाद पद्मों के निकट आने से रोकता है। सबसे बड़ा अभिमान तो इस स्थूल देह का है। इसका किसी प्रकार अभिमान छूटे तो सूक्ष्म शरीर का अभिमान नाच नचाता है, यह भी नाना भोगों को भुगाता है। इससे भी आगे लिंग शरीर का अभिमान है, जब आपकी अत्यन्त उत्कट भक्ति द्वारा लिङ्ग देह रूप जीवकोश गलित है तभी आपके परम पावन पद की प्राप्ति संभव है। सो हे श्यामसुंदर! आप हमें अपना करके अपनाइये। हमें वरण कीजिये, हमें अपने चरणों की शरण दीजिये। हमें अपनी अहैतुकी भक्ति प्रदान करें। आप के पुनीत पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ऋषि मुनियों ने भगवान की स्तुति की। फिर वसुदेव जी की प्रार्थना से सभी ने मिलकर कुरुक्षेत्र में वसुदेव जी से एक बड़ा भारी यज्ञ कराया। यह मैंने ऋषि मुनियों की की हुई श्री कृष्ण स्तुति कही, अब जैसे राम कृष्ण के पिता श्री वसुदेव जी ने राम श्याम की स्तुति की। उसे मैं आप सबसे कहूँगा। आशा है आप सब दत्त-चित्त से श्रवण करेंगे।

छप्पय

आजु सफल सब भये जनम तप ज्ञान सुविद्या ।
माया मोहित जीव न जानें घिरे अविद्या ॥
स्वपन सरिस सब विषय सार तव चरन कमल हैं ।
उद्गम सुरसरि मुनिनि ध्येय अति अमलविमल हैं ॥
जीव कोश होवै गलित, तब पावै नर परम पद ।
देहिं अलौकिक भक्ति प्रभु, शरनागत पालक विरद ॥

पद

देव ! तुम छिपि लीला विस्तारो ।
माया रहित सनातन शास्वत, निरगुन रूप तिहारो ॥१॥
माया मोहित जीव न जानें, निरखें गोरो कारो ।
मंगल अवधि साधुजन आश्रय, भक्तनि विपति विदारो ॥२॥
भटकत फिरत जीव भव जल में, तिनिकूँ तुमही तारो ।
तुम ही पार लगाओ प्रभुवर, दीसत नहीं किनारो ॥३॥
सुरसरि जिनि चरननि तें निकसीं, संतनि सुखद सहारो ।
तिनि चरननि की शरन लई है, प्रभु जगके दुख टारो ॥४॥

ऋषिमुनिकृत श्रीकृष्ण स्तुति

मुनयः ऊचुः

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं,
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया,
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१॥

अनीह एतद् बहुधैक आत्मना,
सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी,
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥२॥

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये,
बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं,
वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥३॥

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
यत्रोपलब्धं सद् व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥४॥

तस्माद् ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ।
सभाजयसि सद्धाम तद् ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥५॥

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया संगम्य सद्गत्या यदन्तःश्रेयसां परः ॥६॥

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥७॥

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥८॥

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥९॥

एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया ।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥१०॥

तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष,
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा,
आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान् ॥११॥

—:०:—

श्रीवसुदेवकृत रामश्याम की स्तुति (१)

[११४]

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत्साक्षात् प्रधान पुरुषौ परौ ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

कुरुक्षेत्र तैं गये द्वारका हरि बल फिरितैं ।
ईश्वर हैं बल कृष्ण सुनी वसुदेव मुनिनितैं ॥
इक दिन लखि एकान्त बिनय वसुदेव सुनाई ।
प्रकृतिपुरुषपति परमपिता तुम दोऊ भाई ॥
जगकूँ रचि पालन करो, तुम ही सबकूँ संहरो ।
जग नायक जगदीश प्रभु, तुम जो चाहो सो करो ॥

भगवान् जब अवनि पर अवतीर्ण होते हैं, तब चिरकाल तक अपनी भगवत्ता को छिपाये रहते हैं। जब सर्वज्ञ पुरुष उनकी भगवत् भाव से स्तुति करते हैं, तब उनके चिर परिचित सगे सम्बधी भी कुछ काल को उनके ऐश्वर्य के सम्मुख नत हो जाते

* श्री वसुदेवजी अपने पुत्र रामकृष्ण की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे कृष्ण! हे श्रीकृष्ण! हे महायोगिन्! हे सनातन संकर्षण! मैं आप दोनों को इस जगत् के कारण रूप प्रकृति और पुरुष का भी कारण समझता हूँ, अर्थात् तुम पुरुषोत्तम हो।"

हैं। ऐश्वर्य से माधुर्य में रस अधिक है और यह प्राणी अत्यंत स्वादिष्ट रस के ही लिये सदा लालायित बना रहता है, इसलिये ऐश्वर्य को माधुर्य दबा लेता है, और फिर भगवान् को साधारण व्यक्ति अपना सगा सम्बन्धी समझने लगते हैं। यही भगवान की लीला है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कुरुक्षेत्र में विधिवत यज्ञ सम्पन्न करके वासुदेवजी अपने कुटुम्ब परिवार तथा रामकृष्ण के साथ अपनी पुरी द्वारका में लौट आये। कुरुक्षेत्र में जो व्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, वृहस्पति, अंगिरा, सनकादिमुनि तथा अन्यान्य सभी बड़े बड़े ऋषि महर्षियों ने श्रीकृष्णचन्द्र को पूर्ण परब्रह्म बताया और उनकी भगवत् बुद्धि से स्तुति की, तब इस बात पर एक दिन वसुदेवजी ने विचार किया, कि इतने बड़े बड़े ऋषि महर्षि महापुरुष बलराम और श्रीकृष्ण को परमात्मा बताते हैं और मैं उन्हें अपना पुत्र मानकर उनपर शासन करता हूँ, यह मैं अनुचित करता हूँ। यह सोचकर वे एक दिन एकान्त में रामकृष्ण दोनों के समीप गये और भगवत् बुद्धि से उन्हें प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे।

राम और कृष्ण की स्तुति करते हुये वसुदेवजी कहते हैं—"हे कृष्ण ! हम तो तुम्हें काले रंग का कृष्ण समझे बैठे थे, अपना पुत्र, किन्तु तुम तो जगत को अपनी ओर आकर्षित करने वाले निकले। हम तो तुम्हें यदुवंश में श्रेष्ठ एक उत्तम यादव मानते थे, किन्तु अब ज्ञात हुआ कि आप तो महायोगेश्वर हैं। हे संकर्षण ! तुम्हें भी हम अत्यन्त बलशाली एक यादव ही समझते रहे, किन्तु तुम तो सनातन परमपुरुष परमात्मा हो। जगत् के कारण प्रकृति

गुरुष जीव समूह-माया—ये जो दो बताये गये हैं आप इन दोनों से परे हैं। इन दोनों के कारण हैं। जैसे जीवसे देह भिन्न है उसी प्रकार आप भी इन दोनों से भिन्न हैं, इनके नियन्ता हैं, संचालक हैं। ऐसा मेरा अब विश्वास हो गया है। ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रभो ! संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आप से पृथक् हो। यह संसार आप का शरीर है। आप ही इसका संचालन कर रहे हैं। कोई भी कार्य किसी आधार पर होता है। निराधार कोई कार्य होता नहीं। यह जगत् आपके ही आधार से होता है। सभी कार्यों का कोई कर्ता अवश्य होता है। इस जगत के एक मात्र कर्ता आपही हैं। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। जैसे घड़ा बनाने के लिये चाक, डोरा, जल, डंडा आदि साधन आवश्यक होते हैं। इस जगत् के साधन भी आप ही हैं। कोई भी पदार्थ किसी वस्तु से बनता है, जैसे सूत से वस्त्र, मिट्टी से घड़ा आदि। इस जगत् के निमित्त कारणरूप पदार्थ भी आपही हैं। सब पदार्थों पर किसी न किसी का स्वामित्व होता है, इस जगत् के स्वामी भी आपही हैं। कोई भी पदार्थ किसी के उपयोग में आता है, यह जगत् भी आपकी क्रीड़ा के निमित्त, मनोविनोद तथा विहार के निमित्त बना है। सभी पदार्थ किसी की प्रेरणा से बनते हैं, यह जगत भी आपकी ही प्रेरणा से बना है। अर्थात् इस जगत् में जहाँ पर जो भी कुछ होता है, जिस कर्ता के द्वारा होता है। जिस साधन से होता है, जिसका होता है जिस स्वामी के लिये होता है, जो जो भी होता है, जिस जिस प्रकार, जिस जिस समय होता है जिस जिस प्रकार होता है वह सब जीव और माया के ईश्वर—प्रधान पुरुषेश्वर—निरवधिक ज्ञानादि कल्याण गुणगण सम्पन्न आप ही हैं। आपसे ही सब होता

हवाता है। यह जो देखने में चित्र विचित्र बहुरूपवाला संसार है आपका ही देह है।

स्वामिन्! हे अधोक्षज! हे सर्वात्मन्! इस जगत् की रचना आप ने ही की है, आपही इसके एकमात्र आधार हैं। इस अनेक योनियों वाले नाना नाम रूप वाले जगत् में आप अपने चैतन्य रूप से—जीव रूप से—प्रवेश करते हैं। आप ही प्राणों को प्राणत्व शक्ति देने वाले हैं आप ही जीव को अन्तरात्मा हैं। जीव और प्राण रूप से सभी का धारण आपही करते हैं आपही पालन पोषण करते हैं, इतना सब प्रपञ्च रचने पर भी—इतना सब वृहत् व्यापार करने पर भी आप उसमें लिप्त नहीं होते, स्वयं निर्विकार ही बने रहते हैं।

प्रभो! यह विश्व जिनसे बना है ये दश प्राण पंचमहाभूत, एकादश इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्रायें, अहंकार महत्तत्व और प्रधान और इन प्राण आदि में जो जो शक्तियाँ हैं, वे सब की सब परम कारण रूप आप परमात्मा की ही हैं। आपके ही सब अधीन हैं। ये जितने शक्तियुक्त प्राण, भूत, इन्द्रियाँ तन्मात्रादिक हैं वे आप परमात्मा के अधीन होने से इनकी शक्तियाँ भी आपके अधीन ही हुईं। ये सब अचेतन होने से आप चैतन्य स्वरूप परमात्मा के सदृश नहीं हो सकते। अर्थात् आपके अधीन हैं, परतन्त्र हैं। ये जो अचेतन प्राण हैं, ये आप परमात्मा की प्रेरणा से ही चेष्टा कर सकते हैं। प्राणों में आप अनुप्राणित न हों तो ये स्वतः कोई चेष्टा कर ही नहीं सकते। इसलिये इनकी अपनी चेष्टा का कोई महत्त्व नहीं, इनकी चेष्टा केवल चेष्टा मात्र ही है जैसे शरीर की जितनी चेष्टायें हैं वे सब जीव के अधीन हैं जीव जैसा चाहता है शरीर वैसी चेष्टा करता है। इसी प्रकार आप परमेश्वर की शक्ति द्वारा ही जीव की समस्त चेष्टायें

हो रहे हैं। आपकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

हे प्रभो! चन्द्रमा में यदि कान्ति न हो तो वह प्रकाश तथा आह्लाद प्रदान नहीं कर सकता। चन्द्रमा में जो कान्ति शक्ति है वह आप ही हैं। अग्नि में दाहक शक्ति न हो, उसमें जलाने का तेज न हो तो वह पचाने का कार्य कर नहीं सकती। अग्नि का तेज भी आप ही हैं। सूर्य में यदि प्रभा न हो तो वह प्रकाश प्रदान नहीं कर सकते। प्रभा भी आप ही हैं। विद्युत में जो चमक जाने की शक्ति है, स्फुरण मात्र से जिसकी प्रतीति का अस्तित्व प्रकट हो जाता है, वह शक्ति रूप में आप ही तो है। पर्वत जो उड़ते नहीं, उनमें स्थिरता का बने रहना यह भी आप ही हैं। पृथिवी में गंध है, समस्त प्राणियों को अपने ऊपर धारण करनेकी शक्ति है, यह भी आपही हैं। जलमें जो मधुरता है, प्राणिमात्र को जीवन देने की तथा तृप्ति करने की शक्ति और उसमें जो सबको पवित्र करने की तथा देवत्व भावना है और रस गुण यह सब आप ही हैं। वायु में जो शोषण की शक्ति है, क्रिया करने की शक्ति है, तथा उसमें जो इन्द्रियों का बल, मनोबल तथा शारीरिक बल ये जो ओज, सह और बल रूपजो प्राण हैं वह भी आप ही हैं।

प्रभो! ये जो दशों दिशायें हैं, तथा दिशाओं में जो अवकाश है, वह भी आप ही हैं, आकाश का जो आश्रय शब्द है तथा परा,पश्यन्ती,मध्यमा और वैखरी जो चार की वाणी हैं। जिन्हें नाद अर्थात् अव्यक्त शब्द, वर्ण अर्थात् शब्द अक्षर, ओंकार अर्थात् सार्थक शब्द और वैखरी अर्थात् वर्णों का विभाग करने वाली वाणी में कहते हैं वह सब आप ही हैं। इन्द्रियों में जो जो तद् तद् विषयों को प्रकाशित करने की शक्ति है जैसे नासिका गंध

को ग्रहण करती है, श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। आँखें रूप को पहिचान लेती हैं, रसना खट्टे मीठे चरपरे आदि षट् रसों का ज्ञान करा देती है, स्पर्शेन्द्रिय शीतल, गरम, मुलायम कठोर आदि गुणों को जता देती है, प्रकाशित कर देती है। इन इन्द्रियों में यह शक्ति आई कहाँ से ? कहना होगा आप ही यह सब करते कराते हैं। आपके बिना इन जड़ इन्द्रियों में इतना ज्ञान कहाँ से आ सकता है। इन्द्रियों के जो इन्द्रादि अधिष्ठातृ देव हैं वे सब भी आप ही हैं। बुद्धिमें जो सत् असत् का निर्णय करने की शक्ति है वह आप ही हैं, जीवों में जो विशुद्ध स्मृति है, जिससे पिछली बातें स्मरण रखी जाती हैं, वह स्मृति आप ही हैं। सृष्टि क्रम में प्रकृति से महत्तत्व होता है और महत्तत्व से अहंतत्व। अहंतत्व सात्विक राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। तामस अहंकारसे पंचभूतोंकी उत्पत्ति होती है, राजस अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति और सात्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं की उत्पत्ति होती हैं। ये सात्विक, राजस और तामस तीनों प्रकार के अहंकार आप ही हैं। जिस माया के द्वारा जीवों का संसार में आवागमन होता है वह माया भी आप ही हैं।

प्रभो ! ऐसा कोई पदार्थ भी नहीं जिसमें आप न हो। नश्वर पदार्थों का अस्तित्व आपके ही द्वारा है, जैसे घड़ा, नाद, सकोरा, परई जितने भी मिट्टी के बने हुए पात्र हैं, उन सबमें सदा सर्वदा मृत्तिका विनी ही रहती है। मृत्तिका के बिना इन पात्रों का अस्तित्व ही नहीं। किन्तु घड़ा के फूट जाने पर, नष्ट हो जाने पर, मृत्तिका का नाश तो नहीं होता। कुंडल के नाश होने पर जैसे सुवर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है, उसी प्रकार इन संसार के सभी पदार्थों का अस्तित्व उनमें निरन्तर आपके वर्तमान रहने

से ही है। किन्तु इन अनित्य पदार्थों के नष्ट होने पर भी नित्य और अविनाशी आप ज्यों के त्यों बने रहते हैं। आपके अस्तित्व में न तो क्षय होता है न वृद्धि आप अखंड एकरस ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं। अणु परमाणु में छोटे बड़े मोटे पतले सभी पदार्थों में आप घट में मृत्तिका के समान, पट में सूत्र के समान, आभूषणों में धातु के समान नित्य निरन्तर बने ही रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वसुदेव ने अत्यन्त ही गूढ़ज्ञान वाली श्रीरामकृष्ण की स्तुति की। अभी वे और भी स्तुति करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप मुझ पर असन्तुष्ट न होंगे, कि एक ही बात को बार बार क्यों कह रहा हूँ। कहने योग्य तो एक ही बात है, सभी प्राणी एक ही बात को बार बार ही तो कह रहे हैं। एक ही अन्न को जीवनभर खाते हैं। छः रसों को नित्य ही-दिन में कई बार चखते हैं। अपने नाम को बार बार उच्चारण करते हैं, बार बार एक ही नाम के हस्ताक्षर करते हैं। बार बार अपने कृत्यों का बखान करते हैं। स्त्री बच्चों से बारबार एक सा ही प्यार करते हैं। एक ही मन्त्र का बारबार जप करते हैं, जब सभी बातें प्राणी बार बार कर रहा है। उन्हीं कामों को जन्म जन्मान्तरों में बार बार करके भी तृप्ति का अनुभव नहीं करता, तो मैं भगवान् के उन्हीं नामों को बार बार लेता हूँ, उन्हीं गुणों को बार बार कहता हूँ, उसी रूप का बार बार वर्णन करता हूँ, उन्हीं लीलाओं का बार बार कथन करता हूँ, उन्हीं भगवत् धामों की बार बार प्रशंसा करता हूँ, तो इसमें मैं अन्याय क्या करता हूँ। सबने उन एक ही प्रभु के सम्बन्ध में कहा है वे प्रभु एक ही हैं। उनकी प्रार्थना भी एक-सी ही होगी। जो सबने प्रार्थना की है, वही वसुदेवजी ने भी की है। शेष प्रार्थनाओं को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तुमही शशि की कान्ति अनल को तेज प्रभा रवि ।
ज्यों थिरता गिरि माहिँ गंध भू विद्युत की छवि ॥
जल जीवन रस तृप्ति वायु गति ओज सहोबल ।
तुम दिक खा अवकाश फोट आश्रय खं केवल ॥
गो-प्रकाशिनी शक्ति सुर, धी इस्मृति हंकार त्रय ।
प्रभु माया घट मृत्तिका, ज्यों हरि सुवरन में वलय ॥

पद

नहीं तुम दोऊ सुत हो मेरे ।
प्रकृति पुरुष पति करहु खेल जग, धरि अवतार घनेरे ॥१॥
तुम ही जीव प्रान बनि प्रानिनि, तन में करत बसेरे ।
शक्ति तिहारी सब थल व्यापति, निशि दिन साँझ सबेरे ॥२॥
रवि, शशि, अनिल, अनल, विद्युत भू , जल आकाश अनेरे ।
सबकी शक्ति तुमहि परमेश्वर, अहंकार त्रय फेरे ॥३॥
ज्यौं घरकूँ चहुँ दिशितैं मिट्टी, परिपूरन करि घेरे ।
त्यों सब जग में ओत प्रोत प्रभु, चरन शरन हम तेरे ॥४॥

—:०:—

श्रीवसुदेवकृत रामश्याम की स्तुति (२)

(११५)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ८५ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

है घट में सरवत्र मृत्तिका भीतर बाहर ।
त्यों अविनाशी आपु रहें सब माहिँ निरन्तर ॥
गुन अरु उनकी वृत्ति योगमाया तैं तुममें ।
कल्पित दीखें नहीं आपु नहिँ बँधे जगतमें ॥
लखें सूक्ष्म गति जे नहीं, जनम मरन चक्कर फँसहिँ ।
दुरल भनरतन व्यरथ करि, खोयो मम लखि यम हँसहिँ ॥

शास्त्रकार बार बार एक ही बात को कहते हैं, उसका वर्णन नाना प्रकार से करते हैं। वह बात यही है, कि सब ब्रह्म से ही हुआ है, ब्रह्म में ही अवस्थित है और अन्त में ब्रह्म में

❀ भगवान् की स्तुति करते हुए वसुदेवजी कह रहे हैं—"प्रभो ! सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण ये जो तीनों गुण हैं और इन तीनों गुणों की महत-त्त्वादि वृत्तियाँ हैं ये सब आप परब्रह्म परमात्मा में आपकी योगमाया द्वारा ही कल्पित हैं।"

ही विलीन हो जायगा, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यह रहस्य हृदयंगम हो जाय, तो फिर चाहे कुछ भी न पढ़ो आपके लिये जानने को कुछ शेष रहता ही नहीं। यदि यह रहस्य हृदयंगम न हुआ तो फिर चाहें आपने लाखों शास्त्र भले ही पढ़े हों, भले ही आपने अनेकों वादों की बात सुनी हों, सब व्यर्थ है आपने कुछ भी नहीं जाना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करते हुए वसुदेवजी कह रहे हैं—"प्रभो! यह बात भी नहीं कि जगन्मय होने से आप में कुछ विकार होता हो आप तो सर्वथा निर्विकार हैं, गुणातीत हैं। ये जो जगत के सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं अथवा महतत्व अहंतत्व आदि इनकी वृत्तियाँ हैं, अथवा सत्त्व गुण की शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, सन्तोष, त्याग, अस्पृहा, श्रद्धा, ह्री, दया दान आत्मरति ये तथा रजोगुण की इच्छा, प्रयत्न, अभिमान, तृष्णा, गर्व, देवताओं से आशीर्वादयाचना, भेदबुद्धि, विषयसुखेच्छा, मदजनित उत्साह, अपने यश में प्रीति, हास्य, पुरुषार्थ, बलपूर्वक उद्यम तथा तमोगुण की जो क्रोध, लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखंड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, पीड़ा, निद्रा, आशा, भय और अनुद्योग आदि वृत्तियाँ हैं ये वास्तव में आप में नहीं हैं, किन्तु आप की जो अचिन्त्य शक्ति माया है, उसके द्वारा आप में कल्पित हैं। यदि ये गुण तथा भाव पृथक् कर दिये जायँ, तो आप विशुद्ध शेष रह जायँगे, शेष क्या रह जायँगे, आप तो विशुद्ध हैं ही। जैसे कोई राजा है, उसने मैले वस्त्र पहिन कर भिखारी का वेष बना लिया है, वह वास्तव में भिखारी नहीं है, उसमें भिखारीपना कल्पित है, आरोपित है। दिखावा है अज्ञानियों को कुछ काल के लिये

भ्रम भले ही हो जाय, किन्तु जो विज्ञ हैं, उसके यथार्थ स्वरूप को जानते हैं, वे उन चिथड़ों के कारण मोह में न पड़ेंगे, वे तो उसे पूर्ववत सम्मान के साथ अभिवादन करेंगे, वह उन चिथड़ों को पहिने हुए भी राजा है, राज काज कर सकता है, आज्ञा दे सकता है, सन्धि विग्रह कर सकता है और जब इच्छा हो तब उन कपड़ों को फेंक कर राजवेप धारण कर सकता है उन कपड़ों के कारण उसके स्वरूप में कोई च्युति नहीं आवेगी। इसी प्रकार भगवन्! भाव विकार वास्तव में तो आप में हैं नहीं। जब आप में इनकी कल्पना की जाती है, उस समय अज्ञानियों को आप भी इन विकारों में कारण रूप से अनुगत से प्रतीत होने लगते हैं। जब कल्पना नहीं की जाती, उस समय निर्विकल्प रूप से निर्गुण विशुद्ध आप ही अवशेष रह जाते हैं। यह निखिल जगत आप अव्यक्त मूर्ति से व्याप्त है, जगत आप में अवस्थित है, आप कुछ जगत के अधीन थोड़े ही हैं। आप तो आनंदघन विशुद्ध विज्ञान स्वरूप शुद्ध सत्वमय शाश्वत सनातन हैं।

प्रभो! अज्ञानी लोगों को ही इन विकारों में कारण रूप से आप प्रतीत होते हैं, वे लोग गुण प्रवाह रूप संसार सागर में आप सर्वात्मा की सूक्ष्मगति को नहीं जानते। इसीलिये इस संसार सागर में डूबते उतराते लहरों की चपेट खाते इधर से उधर भटकते रहते हैं, जन्म मरण के चक्कर में फँसकर चौरासी लाख योनियों में वारम्बार पैदा होते हैं वारम्बार मरते हैं। अपने कर्मानुसार छोटी बड़ी उचावच योनियों में जन्मते और मरते रहते हैं। वे आपके स्वरूप को न जानने के कारण ही पैदा होते हैं और बार बार काल के कवल बनते हैं। मानव शरीर से चाहें तो आवागमन से छूट सकते हैं, किन्तु ऐसा दुर्लभ

शरीर पाकर भी अज्ञानी उसे विषय भोगों में ही विता देते हैं।

प्रभो ! भाग्यवश मुझे अति दुर्लभ मानव शरीर प्राप्त हुआ है। मानव शरीर में भी मैं द्विज हुआ हूँ, सभी इन्द्रिय आदि की सामर्थ्य ठीक है सभी अविकल हैं, किन्तु आप की मोहिनी माया के वशीभूत होकर मैं अपने यथार्थ स्वार्थ को भूल गया हूँ, जो मेरा प्रधान कर्तव्य था उसके प्रति उदासीन हो गया हूँ, परमार्थ पथ से असावधान होने के कारण मैं मानव जन्म की सार्थकता न कर सका अपनी आयु का अमूल्यकाल मैंने व्यर्थ ही विता दिया आप की अहैतुकी भक्ति नहीं की।

स्वामिन् ! आप ने इस सम्पूर्ण जगत को दो फँसरियों से कस कर बाँध रखा है। पहिली रस्सी तो यह कि मैं ब्राह्मण हूँ क्षत्रिय हूँ, मैं पंडित हूँ, बीर हूँ मानी हूँ सुंदर हूँ, स्वरूपवान हूँ, इस अहंता रूपी दृढ़ रस्सी से बँधा हुआ प्राणी संसार से कैसे पार हो। दूसरी रस्सी है ममता की। यह मेरा घर है, मेरा धन है, मेरे माता पिता हैं, ये मेरी माता के सम्बन्धी हैं। ये मेरे पिता के सम्बन्धी हैं यह मेरी पत्नी है ये मेरी पत्नी के सम्बन्धी हैं। इस प्रकार अहंता ममता रूपी सुकोमल सुदृढ़ दो स्नेह पाशों से आपने चराचर जगत को बाँध रखा है। उसी बन्धन में बँधा हुआ मैं पड़ा हूँ। मैं वसुदेव हूँ ये मेरे पुत्र हैं, ये मेरे पुत्रों के पुत्र हैं। बस, इसी धुना बुनी में मेरी आयु बीत रही है।

वास्तव में आप दोनों मेरे पुत्र नहीं हैं, आप तो परमात्मा हैं, ईश्वर हैं,प्रधान पुरुष हैं। यही नहीं प्रधान और पुरुष के भो ईश्वर पुरुषोत्तम हैं। ईश्वर होकर भी आपने मेरे घर में जन्म क्यों लिया है, यह तो आपकी इच्छा है। भू का भार बहुत बढ़ गया

था, भू भार भूत भूपति भूतों को भयभीत बनाये हुए थे नरपति रूप में असंख्यों असुर अवनि पर अवतरित हो गये थे। उन्हें मारने के लिये, उनका वध करने के निमित्त ही आपने अवतार धारण किया है। इस बात को आप बार बार बता भी चुके हैं, किन्तु आपके बताने पर भी मैं भूल जाता हूँ, आप में पुत्रबुद्धि कर बैठता हूँ, यही मेरा अज्ञान है, यही मेरी जड़मति है, यही आपकी मोहिनी माया का प्रबल प्रभाव है।

हे दीनबन्धो ! मेरी बुद्धि विपरीत बन गयी। हाय ! यह जो हाड़ मांस का बना अनित्य क्षणभंगुर मरणशील शरीर है इस अनात्म पदार्थ में मैंने आत्मबुद्धि कर ली। कहाँ तो नित्य, अजन्मा, सनातन शाश्वत आत्मा और कहाँ कृमि विष्ठा और भस्म हो जाने वाला यह तुच्छ शरीर; इसी में मैंने अहंभाव स्थापित कर लिया। और आप विश्व ब्रह्मांड के स्वामी चराचर जगत् के एकमात्रअधीश्वर मायातीत परब्रह्म में मैंने पुत्र भाव की स्थापना कर ली, सर्वात्म सर्वेश्वर में सुत बुद्धि करली। प्रभो ! अब तक जो भूल हुई वह हो चुकी। अब आगे से यह भूल न होने पावेगी। हे स्वामिन् ! आपके जो ये अरुणवरण के युगल चरणारविन्द हैं ये संसार भय से भयभीत प्राणियों को शरण देने वाले हैं, जगत् के बन्धन से मुक्ति प्रदान करने वाले हैं, शरणागतों की सदा रक्षा करने वाले हैं, मैं अब इन्हीं चरणारविन्दों की शरण में हूँ, मैंने अब इन्हीं पुनीत पादपद्मों का सहारा लिया, है समस्त लौकिक आश्रयों की आशा त्यागकर इन्हीं पद पंकजों को अपनाया है इन्हीं का आश्रय लिया है। मैंने बहुत बड़ी भूल की। आयु का अधिकांश समय इन्द्रिय लोलुपता में ही व्यय कर दिया। अब तो मैंने भर पाया, अब तो मेरी आँखें खुल गयीं। स्वामिन् ! अब मुझे अधिक न भ्रमाइये अब तो मुझे अपना लीजिये, अपने

चरणारविन्दों की शरण प्रदान कीजिये। अपना अनुगत अनुचर बना लीजिये।

प्रभो! यद्यपि आप अजन्मा हैं, तो भी अपने बनाये धर्म की रक्षा करने के लिये आप युग युग में अवतीर्ण होते हैं, अवनि पर अवतार लेते हैं। आपने अपने जन्म के समय चतुर्भुज रूप से सूती घर में प्रत्यक्ष हमसे यह बात कही थी कि "हमने कई बार तुम्हारे यहाँ जन्म लिया है, हम भू भार उतारने के लिये समय समय पर अवतार धारण करते हैं।" सो, प्रभो! आपके लिये कुछ भी असंभव नहीं है। आप सब कुछ कर सकते हैं। आप आकाश के समान अनेक रूप धारण करते हैं और इन्हें इच्छानुसार त्याग देते हैं। आप अपनी योगमाया के द्वारा सब कुछ करा सकते हैं, आपकी विभूतिरूपिणी माया को ही कोई नहीं जान सकता फिर आपको जानना तो अत्यंत ही कठिन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी के मुख से ऐसी ज्ञान-विज्ञान पूर्ण स्तुति सुनकर भगवान् हँस पड़े और फिर वसुदेवजी से हँसी-हँसी में ही आत्मा की एकता का निरूपण किया। जिसे सुनकर वसुदेवजी कृतार्थ हो गये। यह मैंने श्री वसुदेवजी कृत रामश्याम की स्तुति कही। अब माता देवकीजी ने आकर जिस प्रकार रामश्याम की स्तुति की। उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा। आशा है आप सब इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

मैं मेरी मृदुपाश बँध्यो जग ताके माहीं ।
जगके ईश्वर उभय तनय तुम मेरे नाहीं ॥
भू को हरिबे भार लयो अवतार अवनि पै ।
शरनागत बनि सकल समरप्यो पदुपदुमनि पै ॥
सूती घर में प्रभु कह्यो, युग युग में अवतार धरि ।
धरम थापि खल वधकरूँ, जाउँ धाम निजकाज करि ॥

पद

प्रभो ! नर तनु जिह वृथा गँवायौ ।
मैं ऐसौ सम्बन्धी ऐसे, जामें नाथ भुलायौ ॥१॥
मायावश समुझै सुत दोऊ, माया मोह बढ़ायौ ।
अब समुझ्यो सर्वेश्वर श्रीपति, वेदहु भेद न पायौ ॥२॥
शरनागत प्रतिपालक प्रभुवर, दीननि दुःख मिटायौ ।
भवभय मेंटि अभय प्रभु कीजे, चरन शरन अब आयौ ॥३॥
धरम हेतु तनु धरो धरनि पै, ऋषि मुनि जिहीं बतायौ ।
समुझि सकै माया को तुमरी, चरनकमल सिर नायौ ॥४॥

श्रीवसुदेव कृत श्रीरामश्याम स्तुति

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत् साक्षात् प्रधान पुरुषौ परौ ॥१॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः ॥२॥
एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ॥३॥
प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।
पारतन्त्र्याद् वै सादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥४॥
कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत् स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥५॥
तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥६॥
दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।
नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥७॥

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः ।
अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥८॥
भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः ।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥९॥
नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।
यथा द्रवविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥१०॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥११॥
तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।
त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाव्यावहारिकः ॥१२॥
गुण प्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥१३॥
यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१४॥
असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत् ॥१५॥
युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरौ ।

भूभारराजपृतन अवतीर्णो तवाऽस्य ह ॥१६॥

तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द,

माफ्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो ।

एतावतालममलमिन्द्रियलालसेन,

मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥१७॥

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ,

संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।

नानातनूर्गगनवद् विदधज्जहासि,

कोवेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥१८॥

श्रीदेवकी कृत रामकृष्ण स्तुति

(११६)

राम रामप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादि पूरुषौ ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ८५ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

सुत सरबेश्वर सुने देवकी दौरी आईं ।
मृतक सुतनि करि यादि बहुत रोईं पछिताईं ॥
इस्तुति करिबे लगीं—राम तुम अमित प्रतापी ।
योगेश्वर श्रीकृष्ण जगत्पति खल संतापी ॥
भार उतारन भूमि, को, नृपति असुर जे बनि गये ।
तिनि खल दलिबे उदर मम, बेटा बनि परगट भये ॥

भगवान की माया भी कैसी प्रबल है, इससे भगवान ही जिसे बचावें वही बच सकता है, नहीं तो अहंता ममता की ऐसी सुदृढ़ पाश हैं, कि इनसे बचना बड़ा ही दुष्कर है। वसुदेव देवकी के यहाँ एक बार नहीं तीन तीन बार स्वयं साक्षात् भगवान् का

---

* श्रीराम तथा कृष्ण भगवान् की स्तुति करती हुई देवकी जी कह रही हैं—"हे राम! हे राम! हे अप्रमेयात्मन्! हे कृष्ण! हे योगेश्वरों के भी ईश्वर! मैं जानती हूँ आप दोनों प्रजापतियों के भी पति ईश्वर तथा आदि पुरुष हैं।

अवतार हो चुका। पहिले ये सुतपा नामक प्रजापति थे और देवकी जी पृश्नि नाम की इनकी पत्नी थीं, दोनों ने सहस्त्रों वर्षों तक घोर तप किया। भगवान प्रकट हुए और वर माँगने को कहा। उस समय दोनों ही मोक्ष माँगना भूल गये उन्होंने भगवान के सदृश पुत्र माँगा। तब भगवान ने इनके यहाँ पृश्निगर्भ रूप से अवतार लिया। फिर ये दोनों ही कश्यप और अदिति हुए,तब भी भगवान् इनके यहाँ वामन रूप से अवतीर्ण हुए। अब तीसरे जन्म में आकर ये ही वसुदेव देवकी हुए, जिनके यहाँ अखिल ब्रह्माण्डनायक स्वयं साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण रूप से अवतीर्ण हुए। श्री कृष्ण को भी पुत्र पाकर देवकीजी ने वर क्या माँगा कि छोटी अवस्था में जो मेरे सात पुत्र मर गये हैं, उन्हें ला दो मैं उनका मुख देखना चाहती हूँ, उन्हें अपने स्तनों का दूध पिलाना चाहती हूँ भला जिन पर परब्रह्म की साक्षात् मूर्ति का एक बार भी प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय तो क्या कहना है, योगीगण जिनकी मनोमयी मूर्ति की कल्पना करके ध्यान में एक बार साक्षात् करने से मुक्त हो जाते हैं। उन्हीं परमब्रह्म को तीन जन्मों तक जिन्होंने लाखों वर्षों तक पुत्र भाव से खिलाया पिलाया वे ही माता भगवत् दर्शन से तृप्त न होकर मृतक पुत्रों के दर्शनों को लालायित हैं और भगवान से ही उन्हें लाने के लिये प्रार्थना कर रही हैं, इसे भगवान की विनोदमयी लीला न कहें तो क्या कहें। भगवान् जिससे जो कराना चाहते हैं,वही कराते हैं। उनकी शरण जाने के अतिरिक्त कोई साधन नहीं, मार्ग नहीं, अध्वा नहीं, पन्था नहीं! उन्हीं की शरण जाने में उन्हीं की स्तुति प्रार्थना करते रहने में परम कल्याण है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक बार जब माता देवकी देवी जी ने सुना, कि मेरे दोनों पुत्र सर्व समर्थ हैं। ये जब गुरु

संदीपिनीजी के पास अवन्तीपुरी में पढ़ते थे तब बहुत दिनों के मरे हुये उनके पुत्र को यमराज के यहाँ से ले आये थे। इस बात को स्मरण करके उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उसी समय उन्हें अपने कंस के द्वारा मारे गये सात पुत्रों की स्मृति हो आयी। अपने नन्हें नन्हें बच्चों का स्मरण आते ही माता का हृदय भर आया और रोते रोते सोचने लगीं—क्या मेरी प्रार्थना पर ये मेरे पुत्रों को नहीं ला सकेंगे ? यही सोचकर वे रामकृष्ण के समीप जाकर विनती करके कहने लगीं। माता ने पहिले बलराम जी को सम्बोधित किया, क्योंकि वे बड़े थे। माता ने कहा—"हे राम ! हे बलराम ! हे अप्रेयात्मन ! हे श्रीकृष्ण ! हे योगेश्वरोंके भी ईश्वर ! अबतक मैं तुम दोनों को अपना पुत्र ही समझती रही थी, किन्तु अब पता चला कि आप किसी के पुत्र नहीं। समस्त प्रजा जिन मरीचि, अत्रि,आंगिरा, वसिष्ठादि की सन्तानें हैं आप तो इन सबके भी पति हैं। आपका जन्म नहीं,मरण नहीं,आदि नहीं,अन्त नहीं आप तो अजन्मा अनादि पुरुष हैं। आप ही नार–जल में वास करने वाले श्रीमन्नारायण हैं। आप कर्मों के अधीन होकर जन्म लेने वाले नहीं हैं। आपतो जन्मादि से सदा सर्वदा रहित हैं जब-जब भूका भार बढ़ जाता है,उसपर प्रबल प्रतापी असुर उत्पन्न हो कर प्रजा को पीड़ा देने लगते हैं। सनातन वेदमार्ग पथ को लुप्त करने को वे नाना प्रकार के अन्याय अत्याचार करते हैं। शास्त्र की प्राचीन प्रथा को त्याग के वेद शास्त्र मार्ग का उल्लंघन करके वे लोग जब मनमानी करने लगते हैं, तब आप अवतीर्ण होकर उन क्षीणायुष प्रबल असुरों का संहार करते हैं। अब के आपने मेरे उदर से अवतार लिया है, मुझे कृतार्थ किया है। प्रभो ! आप समस्त विश्व की आत्मा हैं अथवा यह विश्व आपका ही रूप है, विश्व की तो उत्पत्ति होती है, किन्तु आप उत्पत्ति से

रहित हैं। आद्य हैं, सनातन हैं।

स्वामिन्! यह जगत् त्रिगुणात्मक है। सम्पूर्ण संसार में त्रिगुण ही व्याप्त हैं। ये त्रिगुण माया के अंश हैं और माया आप की अंशभूता है। अर्थात् आप की माया अंशांश से उत्पन्न जो ये गुण हैं,उन गुणों के लेश मात्रसे यह जगत उत्पन्न होता है, लेश मात्र में स्थित रहता है और लेश मात्र से संहार होता है, ऐसे आप सर्व समर्थ सर्वाधीश सर्वात्मा प्रभु की मैं शरण में हूँ।

प्रभो! मैंने सुना है, कि जब आप का मथुरा में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ था और आप ऋषि सन्दीपिनीजी के पास पढ़ने अवन्ती पुरी गये और अल्पकाल में ही सभी विद्याओं में पारंगत हो गये थे, तब आपने गुरुजी से दक्षिणा देने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने अपनी पत्नी से सम्मति करके बहुत दिन पूर्व अपने मरे हुए पुत्र को देखने की इच्छा की। आप दोनों तुरन्त यमपुरी गये और यमराज से उस पुत्र को लेकर गुरुगृह में आये। अपने पुत्र को जैसा का तैसा पाकर गुरु और गुरुआनी दोनों ही परम प्रमुदित हुए। इस प्रकार आपने गुरुदक्षिणा में गुरु के मृतक बालक को लाकर दिया था।

आप दोनों साधारण पुरुष नहीं हैं, योगियों के ईश्वर जो शिवजी हैं, उनके भी आप ईश्वर हैं। समस्त योगेश्वरों के भी गुरु हैं। आप सब की इच्छा पूर्ण करने में समर्थ हैं। मेरी एक बहुत दिनों की इच्छा है। संकोच के कारण मैंने अब तक आप के सम्मुख उसे निवेदन नहीं किया। प्रभो! आपने मातृ हृदय ऐसा बनाया है, कि इसकी उपमा किसी से दी ही नहीं जा सकती। माता का अपनी सन्तान में कितना ममत्व होता है, इसे माता के अतिरिक्त और कौन जान सकता है। माता अपने

सुतों को कभी नहीं भूल सकती और उनके लिये सदा व्यथित बनी रहती है। प्रभो! आप से पहिले मेरे सात सुत और हुए थे, उन्हें शत्रु रूप में उत्पन्न मेरे भाई कंस ने उत्पन्न होते ही मार डाला था, अब मेरी उन्हें एक बार फिर से देखने की बड़ी लालसा है। आप सर्व समर्थ को पाकर भी मैं सदा उन पुत्रों के लिये बिलखती ही रहूँ, क्या आपकी कृपा से मैं उन्हें एक बार फिर से नहीं देख सकती? प्रभो! वे बालक जहाँ भी हों, वहीं से लाकर, एक बार केवल एक ही बार मुझे उन्हें दिखा दो। मेरी चिरकाल की इच्छा को पूर्ण कर दो। यही मेरी आप सर्व समर्थ के चरणों में प्रार्थना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी माता की ऐसी दीनता युक्त प्रार्थना सुनकर राम और श्रीकृष्ण को यह सोचने में देर नहीं लगी कि ये बालक कहाँ पर हैं, जो जन्मते ही मर जाते हैं, वे प्रायः आसुरी योनि के जीव होते हैं, तथा वे प्रायः नीचे के लोकों में जाते हैं। भगवान् ने समझ लिया वे सुतल लोक में निवास करने वाले असुरराज बलि के शासन में सुतल लोक में निवास करते हैं, अतः दोनों योगमाया का आश्रय लेकर सुतल लोक में गये। सुतललोक में जब महाराज बलि ने इन दोनों को देखा तो अत्यंत ही आह्लाद में भरकर इनकी महती पूजा की और स्तुति की। दैत्यराज बलि ने जिस प्रकार भगवान् की स्तुति की उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

हैं त्रिदेव त्रिगुनांश शरन हौं लीन्ही तिनकी ।
सन्दीपिनि सुत लाइ विपति मैंटी तुम उनकी ।।
दोऊ जमपुर जाइ तनय मृत तिनके लाये ।
दई दच्छिना गुरुहिँ कृतारथ ह्वै घर आये ।।
मेरे छः सुत कंश ने, मारे तिनि देखन चहूँ ।
प्रभु घट घट की बात सब, जानत हौं पुनि का कहूँ ।।

पद

राम अरु कृष्ण जगत के स्वामी ।
नहिँ तुम पुत्र पौत्र काहू के, हौ हरि अन्तरजामी ।।१।।
जमपुर तैं सुत गुरु के लाये, काम करयो बड़ नामी ।
अरथी पावैं अरथ चरन गहि, कामहु पावैं कामी ।।२।।
कंस सात सुत मेरे मारे, सुरत करूँ निष्कामी ।
देखन चहौं तिनहिं लै आओ, प्रभु तो सब थल गामी ।।३।।

—:०:—

देवकीकृत रामकृष्ण स्तुति

देवक्युवाच

राम रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥१॥

कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे ॥२॥

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥३॥

चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा कालचोदितौ ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद् गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥४॥

तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥५॥

—:०:—

वलिकृत रामकृष्ण स्तुति

(११७)

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८५ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

माँ विनती सुनि राम कृष्ण बलि के पुर आये ।
सुतल लोक हरि लखे असुरपति बलि हरषाये ॥
इस्तुति करिवे लगे—"कृष्ण बल वन्दौं चरननि ।
कृपा करी करुनेश दये दरसन हम असुरनि ॥
वैर भाव करि तरे बहु, असुर यक्ष दानव अधम ।
सो गति सुर पावैं नहीं, करि सतगुनयुत शुभ करम ॥

सभी लोक एक से हैं, सभी में माया का विस्तार है, सभी में त्रिगुणों का विस्तार है, भगवत्लोक को छोड़ कर सभी पुनरावर्ती हैं, सभी में से पाप पुण्य भोग

---

* राम कृष्ण की स्तुति करते हुए दैत्यराज बलि कह रहे हैं—बृहद्रूप अनंत भगवान् के लिये नमस्कार है, विश्व को रचने वाले श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है। सांख्य और योग का विस्तार करने वाले ब्रह्मस्वरूप परमात्मा को पुनः पुनः प्रणाम है।

कर लौटना पड़ता है, इनमें कौन बड़ा कौन छोटा। जो जहाँ पहुँच जाता है वहीं निर्वाहकर लेता है,अशांति और अतृप्ति तो ब्रह्मलोक पर्यन्त है। अपने से अधिक सुखीको देखकर ईर्ष्या सर्वत्र है, पतन का भय सभी लोकों में लगा हुआ है। अच्छा लोक वही है, जहाँ भगवान् के दर्शन हो जायँ और बुरा लोक वही है जहाँ भगवत् दर्शनों से वंचित रहना पड़े। यदि भगवान् के दर्शन हों, भगवत् स्मृति हृदय में बनी रहे,तो नीचे के लोक भी उच्च लोक हैं भगवत् स्मृति शून्य उच्च लोक भी अधम ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! माता देवकी का प्रिय करने के निमित्त, उनकी लालसा की पूर्ति के लिये भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी अपने बड़े भाई बलदेवजी के साथ दैत्यराज बलि के लोक में गये। भगवान् को अपने यहाँ आया हुआ देखकर असुरराज बलि संभ्रम के साथ उठकर खड़े हुए। भगवान् का स्वागत किया, साष्टांग दण्डवत् की, उच्चासन पर बिठाकर षोडशोपचार पूजा की और हाथ जोड़कर गद्गद कंठ से वे दोनों की स्तुति करने लगे।

स्तुति करते हुए महाराज बलि कह रहे हैं—"प्रभो! यह जो जड़ चैतन्य मय सम्पूर्ण चराचर जगत् है उसे आप अपने एक फण पर राई के समान धारण किये हुए हैं। इसीलिये आप की शेष संज्ञा है, कोई भी आपका अन्त नहीं पा सकता इसी लिये आप अनन्त कहलाते हैं। आप महान् से भी महान् हैं। ऐसे आप संकर्षण भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम है।

हे भक्तभय भञ्जन भगवन्! आप निखिल जगत् के रचने वाले हैं, आप विश्वसृष्टा हैं, सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं। आप सांख्य शास्त्र के विस्तारक हैं तथा दूसरे रूप से योग शास्त्र के विस्तारक हैं। आप साक्षात् परब्रह्म स्वरूप ।

परमात्मा हैं। आप दोनों के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! जीवों का एकमात्र चरम लक्ष्य आपके दर्शन प्राप्त करना ही है। जितने भी जप, तप, योग, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा अन्यान्य साधन हैं, सबका एकमात्र उद्देश्य यही है कि आपके दर्शन हो जायँ, आप साधक के दृष्टिगोचर हो जायँ, किन्तु आप साधन साध्य हैं ही नहीं। बापुरे साधन भला आप सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी सर्वाधार सर्वसमर्थ सर्वगुणनिधान भगवान् को प्राप्त करा ही कैसे सकते हैं। आप इतने महान् हैं, इतने पावन हैं, कि साधन आपका स्पर्श कर ही नहीं सकते। फिर भी बिना साधन किये साधक पर रहा नहीं जाता, वह साधन करते हुए आपकी कृपा की प्रतीक्षा करता रहता है, आपकी अनुकम्पा की बाट जोहता रहता है। वैसे मनुष्य चाहे कि मैं अपने पुरुषार्थ से प्रभु को पालूँगा, मैं अपने साधनों से सर्वेश्वर को वश में कर लूँगा, तो यह बात दुर्लभ है, कठिन है, किन्तु आप कृपा कर दें तो कुछ भी कठिन नहीं। आपकी अनुकम्पा से सब ही सुलभ हो जाता है। देखिये, प्रभो! यदि मैं साधन करके आप को अपने लोक में बुलाना चाहता, तो क्या आप मेरे बुलाने से आ सकते थे। मेरे जाने कितने लोग आप को अपने यहाँ बुलाने के लिये लालायित हो रहे होंगे, किन्तु आप सबके यहाँ तो नहीं जाते, जिस पर आप कृपा करें, जिसे आप दर्शन देना चाहें वही आप की कृपा का भाजन बन सकता है, वही आपके देव दुर्लभ दर्शन प्राप्त कर सकता है। आपकी कृपा कब होगी, किस पर होगी, इस का कोई निश्चित निर्णय नहीं। आप सत्वगुण प्रधान पुरुषों पर ही कृपा करते हों, रजो गुण तमो गुण विशिष्ट पुरुषों को ठुकरा ही देते हों, सो भी बात नहीं। आप तो अपने वैर भाव रखने वाले विपक्षियों पर भी कृपा करते हैं, जो आपको अपना

शत्रु समझते हैं, उन शत्रु भाव वालों पर भी आप अनुग्रह करते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं ही हूँ। मेरा तो जन्म असुर कुल में हुआ है जो असुर सदा आप से द्वेष ही करते हैं। फिर भी आप ने कृपा करके मुझे यहाँ सुतललोक में आकर दर्शन दिये। इससे बढ़कर भक्तवत्सलता और क्या हो सकती है ?

स्वामिन्! आपने केवल मुझ पर ही कृपा की हो सो भी बात नहीं। मेरे समान जो अन्य रजोगुण तमोगुण विशिष्ट दैत्य हैं, दानव हैं, तथा गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत और प्रमथनायक आदि योनि वाले हैं, जो आपसे प्रेम नहीं करते, आप में भक्ति नहीं करते अपितु आप विशुद्ध सत्वमूर्ति सर्वेश्वर से सदा द्वेषभाव रखते हैं, आपको अपना शत्रु समझते हैं। उनमें प्रह्लाद आदि कितने ही भक्ति भाव से भी आपको भजते हैं, कितने ही सांसारिक नाना कामनाओं के कारण ही आपको भजते हैं, किन्तु आप समदर्शी ने उन्हें वह पद प्रदान किया जिसके लिये बड़े बड़े सत्व प्रधान देवादि तरसते रहते हैं। जिसे बड़े बड़े योगी साधक प्राप्त नहीं कर सकते, सो प्रभो! आपकी कृपा किस पर कब हो जायगी इसका पता नहीं चलता।

हे योगेश्वरों के भी ईश्वर! आप अपनी योग माया का आश्रय लेकर नित्य नये खेल रचते रहते हैं, उनका पार पाना ब्रह्मादिक देवों के लिये भी कठिन है। आपकी यह विश्वविमोहिनी योगमाया ऐसी विचित्र है, कि इसके सम्बन्ध में 'इदमित्थम्' कोई कह ही नहीं सकता। कोई दृढ़ता के साथ पूर्ण परिभाषा करके यह कहने में समर्थ नहीं है, कि भगवान् की योगमाया ऐसी ही है। वह अघटनघटनापटीयसी है। इस सम्बन्ध में बड़े बड़े योगेश्वर भी विमोहित हो जाते हैं, वे इसके यथार्थ रहस्य को प्रकटित करने में अपनेको असमर्थ पाते हैं, जब योगेश्वरों की यह दशा

है, तो फिर हम लोग जो रजोगुण तमोगुण से सदा आविष्ट रहते हैं, वे इस सम्बन्ध में कह ही क्या सकते हैं।

प्रभो! यह जीव इस भवाटवी में न जाने कब से भटक रहा है। कबसे यह त्राण पाने को व्याकुल हो रहा है, कबसे आश्रय खोज रहा है, किन्तु इसे अब तक आश्रय मिला नहीं। यह जीव अपना एक सच्चा साथी खोजता है, जिससे प्यार करे। अनेक योनियों में इसने अनेक साथी बनाये। कितने माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, स्त्री, पुत्र, परिजन स्वजन और सम्बन्धी आदि बनाये; किन्तु कोई सहायक सिद्ध नहीं हुए। सबके सब स्वार्थी ही निकले। यह गृहस्थ तो अन्धकूप के समान है कि इसमें गिर गये, तो फिर निकलना भी कठिन हो जाता है। इस गृहस्थाश्रम को आश्रय समझ कर इसकी ओर आकर्षित हुए, किन्तु इसने तो और अन्धकार में फँसा दिया। सच्चा आश्रय तो आपके पाद पद्म हैं। निरपेक्ष योगीजन उन्हीं की खोज करते हैं, उन्हीं चरणारविन्दों के आश्रय में रहकर काल यापन करना चाहते हैं। प्रभो! मैं भी उन्हीं अरुणवरण के पादारविन्दों का आश्रय चाहता हूँ। इस गृहान्धकूप से निकल कर जगत् के एकमात्र आश्रय आपके पादपद्म की मकरन्द का मेरा मत्त भ्रमर मन सदा आस्वादन करता रहे। सांसारिक सम्बन्धियों के पचड़ों से पृथक रहकर शान्तभाव से एकान्त में अकेला ही विचरूँ, यदि संग करना ही हो तो आपके अनुरक्त भक्तों का, सबके सुहृद् सच्चे साधुजनों का ही सदा संग करूँ। उन्हीं के साथ कथोपकथन करूँ, उन्हीं के साथ विचरण करूँ।

हे प्रभो! हे सर्वसुहृद्! हे सर्वेश्वर! आपकी वाणी ही वेद है। आप जो करने को कहें वही विधि है, आप जिसे न करने को कहें वही निषिद्ध है। आप जो करने को कहें उसी का श्रद्धापूर्वक

आचरण करने से पुरुष सांसारिक विधि निषेध से परे हो जाता है, उसके लिये न कोई कर्तव्य कर्म रहता है, न अकर्तव्य ही; वह गुणातीत बन जाता है। वह सभी प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है। हे सर्वान्तर्यामी प्रभो! हमें भी आप ऐसा ही कोई आदेश उपदेश दीजिये। कोई आदेश हो तो उसकी आज्ञा प्रदान कीजिये। आपकी आज्ञा का पालन करने से मैं धन्य हो जाऊँगा, कृतार्थ हो जाऊँगा मेरा इस लोक का रहना, तथा मेरा जीवन सफल हो जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार दैत्यराज बलि ने विविध प्रकार से भगवान् की स्तुति की। तब भगवान् ने बड़े प्रेम से अपने आने का कारण बताया कि प्रथम मन्वन्तर में मरीचि प्रजापति की ऊर्णा नाम की स्त्री में ६ पुत्र हुए थे। वे ब्रह्माजी को सरस्वती के साथ सङ्गम करने को उद्यत देखकर हँस पड़े थे। तब ब्रह्माजी ने उनकी इस अविनय के कारण शाप देकर उन्हें असुर योनि में जाने को कह दिया। इससे वे हिरण्यकशिपु के पुत्र हुए। फिर वे ही माता देवकी के गर्भ से उत्पन्न होकर कंस द्वारा मारे जाकर तुम्हारे लोक में हैं। माता उन्हें देखना चाहती हैं उन्हें लेने ही हम आये हैं। महाराज बलि ने कहा—"प्रभो! ले जाइये। सबके स्वामी तो आप ही हैं।"

इस प्रकार सुतललोक से सातों को लाकर भगवान् ने माता को हर्षित किया, यह मैंने राजा बलि द्वारा की हुई रामकृष्ण की स्तुति आपसे कही। अब जैसे मिथिला में राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मण ने भगवान् की स्तुति की उन दोनों की स्तुतियों को आपसे कहूँगा, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

हे योगेश्वर कठिन योगमाया है तुमरी।
नाथ ! कृपा अब करो छुटै गृहममता हमरी॥
तव चरननि की शरन गहूँ बिचरहूँ संतनि सँग।
सेवा में ही लगें निरन्तर मेरे सब अँग॥
प्रभु देवें आदेश कछु, जाते भवबन्धन कटै।
पद पदुमनि में मन रमैं, विषयवासना तैं हटै॥

पद

नाथ ! मम लोक कृतारथ कीयो।
जो अति दुरलभ दरस सुरनिकूँ, सो घर बैठे दीयो॥१॥
जो पद सुर मुनि देव न पायो, असुरनि सो लैलीयो।
कोई अरि बनि काम भक्ति करि, प्रेम सुधारस पीयो॥२॥
पद पदुमनि में प्रेम बढ़े नित, चरन सहारो लीयो।
आयसु देहिँ करूँ का सेवा, सब कछु प्रभु को दीयो॥३॥

बलिकृत रामकृष्ण स्तुति

बलिरुवाच

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥१॥
दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।
रजस्तमः स्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥२॥
दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥३॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥४॥
केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः ॥५॥
इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥६॥
तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्म-
त्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः,
शान्तो यथैक उत सर्व सखैश्चरामि ॥७॥
शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो ।
पुमान् यच्छ्रद्धयाऽऽतिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥८॥

महाराज बहुलाश्वकृत श्रीकृष्ण स्तुति

(११८)

भवान् हि सर्वभूतानामात्मासाक्षी स्वदृग्विभो ।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

मिथिला के बहुलाश्व नृपति अति सरल अमानी ।
ताही पुर श्रुतदेव बसहिँ द्विज भक्त सुज्ञानी ॥
निरधन द्विज नृप धनी किन्तु सम भक्ति उभय उर ।
दोउनि करन कृतार्थ कृष्ण पहुँचे मैथिलपुर ॥
दोउनि के घर साथ ही, उभय रूप प्रभु धरि गये ।
नृप बोले—साक्षी सकल, विभु कृतार्थ हम सब भये ॥

भगवान तो भावग्राही हैं । यह सत्य है, कि भगवान् निष्किंचनजनप्रिय, दीनबन्धु, दीनानाथ अकिंचनबन्धु तथा निर्धनों के धन हैं, किन्तु उन्हें धनिकों से द्वेष हो, धनिकों से वे शत्रुता रखते

---

* मिथिला देश के महाराज बहुलाश्व भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो ! आप सम्पूर्ण भूतों के आत्मा हैं, साक्षी हैं, और स्वयं प्रकाश हैं । अतः आपने हम चरणचिन्तकों को जो आपके चरणारविन्दों का सदा स्मरण करते हैं, कृपा करके दर्शन दिये हैं ।

हों, यह बात नहीं । अभिमान बढ़ाने के कुल, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, धन और भी बहुत से कारण बताये हैं इनमें धन सम्पति का मद सर्व प्रधान है, धन ऐश्वर्य पाकर मानव मदोन्मत्त हो जाता है, फिर वह अपने सामने किसी को कुछ समझता ही नहीं । भगवान् का एक नाम मदहारी भी है । वे अभिमानी मदोन्मत्त व्यक्ति के सम्मुख प्रकट नहीं होते । यदि धन पाकर भी जिनको स्तम्भ नहीं, मद नहीं, अभिमान नहीं तब तो सोने में सुगन्ध है । भगवान बाह्य वस्तुओं को नहीं देखते वे तो हृदय की परख करते हैं । यदि हृदय शुद्ध है । उसमें मान नहीं है अच्युत के प्रति अनुराग है, तो चाहें वह धनी या निर्धन, राजा हो चाहें भिखारी ऐश्वर्यहीन हो या ऐश्वर्यशाली, सभी पर समान भाव से कृपा करते हैं । दोनों को एक भाव से देखते हैं और दोनों की भावना का आदर करते हैं ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मिथिलापुरी में भगवान् श्री कृष्ण के काल में एक बहुलाश्व नाम के विदेह राजा राज्य करते थे । उनका श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में अत्यधिक अनुराग था । उसी नगर में श्रुतदेव नाम का एक ब्राह्मण निवास करता था । राजाके पास अपार धन सम्पत्ति थी । देवेन्द्रको भी दुर्लभ हो ऐसा उनका ऐश्वर्य था । इसके विपरीत ब्राह्मण निष्किंचन था । उसे नित्य उतना ही धन प्राप्त होता, जिससे कष्टपूर्वक निर्वाह हो सके किन्तु उसे इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी । वह यथालाभ संतुष्ट द्विज था । धन में तो दोनों की असमानता थी, किन्तु श्री कृष्ण भक्ति में दोनों समान थे । दोनों ही शान्त प्रकृति के थे, दोनों ही सांसारिक विषय वासनाओं से शून्य थे तथा दोनों ही आसक्ति रहित थे दोनों को ही उत्तम कुल का तथा धनादि का अभिमान नहीं था । दोनों की ही इच्छा थी, भगवान् हमारे यहाँ

पधार कर हमारे घरों को पावन बनावें तथा हमें अपने देव दुर्लभ दर्शनों से कृतार्थ करें। भगवान् तो वांछाकल्पतरु ही ठहरे, वे भक्तों की इच्छा को सदा पूर्ण करते हैं। उन दोनोंको कृतार्थ करने भगवान मिथिलापुरी में पधारे। दोनों की ही इच्छा थी भगवान हमारे ही घर चलें हमारा ही आतिथ्य ग्रहण करें। दोनों ही उन्हें लेने भी साथ गये। भगवान् ने दोनों को ही प्रसन्न किया। जहाँ से ब्राह्मण के घर का मार्ग पृथक् होता था, वहाँ भगवान् ने अपने दो रूप बना लिये। एक रूप से तो वे राजा के संग राजमहल की ओर चल दिये और एक रूप से ब्राह्मण से पीछे पीछे हो लिये। दोनों ही बड़े प्रसन्न थे, कि भगवान ने हमें ही अत्यधिक सम्मान प्रदान किया, हमारी ही इच्छा की पूर्ति की।

जब महाराजा बहुलाश्व के महलों में भगवान् पहुँचे तो महाराज ने शास्त्रीय विधि से परम ऐश्वर्य के साथ भगवान् की पूजा की और अत्यंत ही नम्रभाव से स्तुति करने लगे। भगवान् की स्तुति करते हुए महाराज बहुलाश्व कह रहे हैं—"प्रभो! आपसे किसी के मन की कोई बात छिपी नहीं है, क्योंकि इच्छा का जो उद्गम स्थान है, वहाँ से इच्छा आपकी प्रेरणा से ही निकलती है। कारण कि जितने चर अचर स्थावर जंगम जीव हैं, उनमें आत्मरूप से आपही तो निवास करते हैं, इसीलिये आपको सर्वान्तर्यामी तथा विश्वात्मा कहते हैं। संसार में शारीरिक मानसिक वाचिक जितने भी जो जो कर्म होते हैं, उन सब कर्मों की चेष्टाओं के एकमात्र साक्षी आप ही हैं। आपके साक्ष्य के बिना कोई कर्म संभव ही नहीं। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे किसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। यदि सूर्य चन्द्र तथा अग्नि का प्रकाश न हो, तो संसार के कोई भी पदार्थ दिखायी न दें। सर्वत्र अंधकार ही अंधकार हो जाय। प्रकाश होने पर ही नेत्रों में भी

प्रकाश होता है और उसी के प्रकाश में सबको देखते हैं, सब वस्तुएँ प्रकाशित होने के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखती हैं, किन्तु आपको किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा ही नहीं। आप स्वयं ही प्रकाश स्वरूप हैं या यों कहें कि आपके ही प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित हो रहा है।

प्रभो! आप हमारे अन्तःकरण की अभिलाषा को समझ कर ही यहाँ पधारे और हमें अपने दर्शनों से कृतार्थ किया, तथा हमें दर्शन, स्पर्श, पूजा और प्रार्थना का सुअवसर प्रदान किया, हम आपके अनुरूप कौन-सी वस्तु समर्पित कर सकते हैं, केवल श्रद्धा सहित आपके पादपद्मों में प्रणाम ही कर सकते हैं।

स्वामिन्! आप बारम्बार कहा करते हैं, कि जितने प्यारे मुझे अपने अनन्याश्रित भक्त हैं उतने प्यारे मुझे अपने बड़े भाई बलरामजी भी नहीं। जो मेरी अर्धाङ्गिनी हैं, जो कहीं भी किसी दशा में मेरा साथ नहीं छोड़तीं। वे लक्ष्मी जी भी मुझे उतनी प्यारी नहीं जितने प्यारे मुझे भक्त हैं। ब्रह्माजी तो मेरे पुत्र ही ठहरे, मेरे स्वरूप ही हैं, मेरी आत्मा ही हैं, वे ही इस चराचर विश्व की रचना करते हैं, जिसमें मैं स्वच्छन्द क्रीड़ा करता हूँ,वे ब्रह्माजी भी मुझे भक्तों की अपेक्षा प्रिय नहीं हैं, मुझे सबसे अधिक प्रिय भक्त ही हैं।" मानो अपनी इस उक्ति को चरितार्थ करने के निमित्त ही भक्त न होने पर भी आप हमारे यहाँ पधारे और हमारी सेवा स्वीकार की।

प्रभो! जब आप भक्तों पर इतना अधिक स्नेह करते हैं, और उन्हें इस प्रकार चाहते हैं तब ऐसा कौन कृतज्ञ पुरुष होगा जो आपके भवभयको भगाने वाले अरुण रङ्गके चरणारविंदोंकी छत्र छाया को छोड़कर अन्यत्र जाना चाहेगा। हे भगवन्! जो मनन-शील मुनिगण एकमात्र आपको ही चाहते हैं, जिन्हें संसारी अन्य

किसी भी विषय की इच्छा नहीं जो निष्किंचन हैं, जिनका चित्त चंचल नहीं अलोलुप है, शान्त स्वभाव के हैं ऐसे अनन्याश्रय भक्तों को आप सब कुछ दे देते हैं,यहाँ तक कि अपने आपको भी अर्पण कर देते हैं ऐसे आप सर्वस्व दाता को जो भूल जाते हैं, उनसे बढ़कर अभागा और कौन हो सकता है।

स्वामिन्! यह जीव न जाने कब से भटक रहा है। संसार सागर में गोते लगा रहा है, संसार रूपी उत्ताल तरङ्गों वाले जल निधि की निरन्तर चपेटें लगने के कारण यह जीव ऐसा हो गया है, कि स्वयं इसमें पार होने की शक्ति रही नहीं। जब तक आप इसे हाथ पकड़ कर जल से बाहर न कर दें तब तक यह पार नहीं लग सकता। आप दया के सागर हैं, करुणा के निधि हैं। जीवों पर अनुकम्पा करनेके हेतु ही-प्राणियोंके संसारचक्रको शमन करने के निमित्त ही-आपने यदुकुलमें अवतार धारण किया है। जिसके दर्शन, स्पर्श और संग से असंख्यों जीवों का उद्धार हो जायगा, वे जन्म मरण रूप चौरासी के चक्कर से छूट जायँगे। साथ ही आप ऐसे ऐसे अद्‌भुत अलौकिक कार्य करते हैं, जिनकी कीर्ति संसार में शेष रह जायगी। उस पावन यश का जो पीछे से गान करेंगे वे भी संसार बंधन से छूट जायँगे। इस प्रकार प्रभो! आपके समस्त कार्य लोक हितार्थ ही होते हैं, जीवों के कल्याण के निमित्त ही आपकी सभी चेष्टायें होती हैं।

हे देव! आप निरवधि हैं, आप सभी प्रकार के दोषों से रहित हैं, आप विश्व को अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं। जितने ज्ञान, वैराग्य, यश, श्री ऐश्वर्यादिगुण हैं उन सबसे आप सम्पन्न हैं। आप परमानन्द स्वरूप हैं, आप ज्ञान विज्ञान की मूर्ति हैं आप का धैर्य अखंडित है, उसमें कभी भी किसी समय भी किसी प्रकार की भी विकृति नहीं आती। आप लोक में सुख शान्ति की

स्थापना हो, इस निमित्त नरनारायण ऋषि का रूप रखकर अत्यंत उग्र किन्तु अत्यंत ही शान्त तप करने वाले हैं, ऐसे आप नारायण रूप प्रभु के पादपद्मों में मेरा पुनः पुनः प्रणाम है।

हे भूमन्! आपने इस अकिंचन पर महती कृपा की जो अपने देव दुर्लभ दर्शनों से मुझे समस्त परिजन पुरजनों के सहित कृतार्थ किया। अब मेरी आपके पादपद्मों में यही विनीत प्रार्थना है, कि आप इन मुनिजनों के सहित कुछ काल इस नगर में निवास कीजिये अपने पाद पद्मों के पुनीत पराग से इस राजमहल को पावन बनाइये। आपकी चरणरजसे मैं ही स्वयं नहीं तर जाऊँगा, किन्तु यह समस्त निमिकुल पावन बन जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार विदेहराज महाराज जनक ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने भी उनकी प्रार्थना स्वीकार करके उनके महलों में कुछ काल निवास किया। महाराज बहुलाश्व की भाँति ही श्रुतदेव विप्र ने भगवान् की विधिवत् पूजा की और हर्ष में विह्वल होकर वस्त्र को चारों ओर फहरा कर नृत्य करनेलगा। श्रुतदेव ब्राह्मण ने जैसे भगवान की स्तुति की, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा

छप्पय

जो निष्किंचन शान्तहून निज तिनि दे हारें।
लिये जनम यदुवंश सुयश जगमें विस्तारें॥
नमो नरायन कृष्ण विराजें कछु दिन पुर में।
निमि कुल करें कृतार्थ सदा निवसें मम उर में॥
भूपति की अति विनय लखि,प्रभु कछु दिन मिथिला रहे।
ऐसे ही इस्तुति वचन, श्रुतदेवहु द्विज ने कहे॥

पद

विभो तुम स्वयं प्रकाशक त्राता।
भगतनि के सरबसु सब साखी, प्रनतपाल पितुमाता ॥१॥
बारबार श्रीमुख तें भाख्यो, प्रिय न मोइ अज भ्राता।
मोकूँ प्रिय अति भक्त अहैतुक, जो मेरे सुखदाता ॥२॥
कौन अभागो जो नहिँ सुमरे, अरुन चरन जलजाता।
प्रभु समर्थ सरबज्ञ सरबपति, पालक रुद्र बिधाता ॥३॥

महाराज बहुलाश्वकृत श्रीकृष्ण स्तुति

राजोवाच

भवान् हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग् विभो ।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥१॥
स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥२॥
को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद् विसृजेत् पुमान् ।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥३॥
योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥४॥
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥५॥
दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहान् नो निवस द्विजैः ।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥६॥
इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः ।
उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥७॥

श्रुतदेव द्विजकृत श्रीकृष्ण स्तुति

(११६)

नाथ नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यहींदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टोह्यात्मसत्तया ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ८६ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

लखि अच्युत श्रुतदेव प्रेमतैं नाचन लागे ।
प्रभु की पूजा करी भाग्य द्विजवर के जागे ॥
इस्तुति करिकें कहें—विश्वपति विश्व बनाश्रो ।
रचि प्रवेश पुनि करो विविध कौतुक दरसाश्रो ॥
अभिनन्दन कीर्तन श्रवन, पूजन तुमरो जे करें ।
हिय में दरशन देहिँ तिनि, भवसागर तैं ते तरें ॥

भगवान् की सत्ता से ही यह जगत सत्तावान है भगवान् ही अणु परमाणु में प्रविष्ट होकर सबको बनाये हुए हैं। भगवान को

❀ भगवान् को स्तुति करते हुए द्विजवर श्रुतदेव कह रहे हैं—"जिनका हम दर्शन कर रहे हैं, वे अपनी शक्तियों से इस चराचर विश्व को उत्पन्न करके अपनी आत्मसत्ता से इस जगत में प्रविष्ट हो गये हैं, जो परम विलक्षण परमपुरुष हैं । वे पुरुष नहीं हैं, किन्तु साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं ।

शक्ति तिरोहित हो जाने पर यह जगत् तिरोहित हो जाता है। जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही सूत्र निकाल कर ताना बाना बुनती है, इच्छा होती है, तब तक क्रीड़ा करती है, जब इच्छा होती है, तो फिर उसे ज्यों का त्यों निगल कर अपने भीतर रख लेती है। इसी का नाम भगवान की अचिन्त्य माया है।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रुतदेव ब्राह्मण ने अपने घर पर आये हुए भगवान को जब देखा, तो वह वस्त्र फैलाकर नाचने लगा भगवान की सहज प्राप्त सामग्री से पूजा की और फिर स्तुति करते हुए कहने लगा । ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो ! आज मैं कृतार्थ हो गया। यद्यपि आप सदा सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हैं जीव में जो चैतन्यांश है वह आप ही हो, किन्तु अभक्त आपके दर्शन नहीं कर सकते। आप योगमाया से समावृत होने के कारण सबके सम्मुख प्रकाशित नहीं होते। जिस पर आप कृपा करें, जिसके सम्मुख योगमाया के परदे को हटा दें, जिसे अपने आप को जता दें, जिसे बुद्धियोग दे दें वे ही तत्वतः आप को जान सकते हैं । आपके दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि जब से आपने इस जगत् की रचना की तभी से हम आपके दर्शन कर रहे हैं, किन्तु वह दर्शन यथार्थ दर्शन नहीं थे। यथार्थ दर्शन तो आपके आपकी कृपा से आज ही प्राप्त हुए। अथवा आप जो मानवावतार में सर्व साधारण मनुष्य से दृष्टिगोचर होते हैं, केवल वही आप नहीं। आप प्रकृति पुरुष से परे जो पुरुषोत्तम हैं, उससे भी परे परमात्मा हैं। आप अपनी ज्ञानादिक शक्तियों से इस चराचर विश्व की रचना करके सत्ता रूप में उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। आपकी सत्ता के कारण ही ये स्थावर जंगम पदार्थ भासने लगते हैं। आप इस कारण किसी से भी पृथक् नहीं हैं।

प्रभो ! जैसे कोई सोया हुआ पुरुष है। वह किसी स्थान पर सुखद शैया पर सुखपूर्वक सो रहा है। स्वप्न में वह राजपाट सिंहासन, सेना, सैनिक, हाथी, घोड़ा, अस्त्र शस्त्र आदि अनेक वस्तुओं की रचना करता है। अपने ही पक्ष की नहीं अपने अनेक प्रतिपक्षी राजाओं की उनकी सेना की कल्पना करता है, फिर स्वयं उनमें अनुप्रविष्ट होकर सबमें भासता है। जो स्वप्न देखता है वास्तव में उसी में चैतन्यांश है। स्वप्न के रचित जितने भी हाथी, घोड़ा, ऊँट, बलैड़ा, सैनिक सेवक आदि हैं सभी कल्पित हैं, मिथ्या हैं, किन्तु देखने वाले की सत्ता से वे सबके सब स्वाप्निक पदार्थ चैतन्य दीखते हैं। वह स्वप्न में देखता है, मेरा किसी ने सिर काट दिया है, सिर पृथक् पड़ा है धड़ पृथक् पड़ा है। लोक में जिसका सिर धड़ से पृथक् हो जाय, वह दृष्टा नहीं रह सकता अपने ही मृतक शरीर को कैसे देख सकता है, किन्तु स्वप्न में तो स्वप्नदेखनेवाले के अतिरिक्त जितने शरीर हैं, यहाँ तक कि अपना भी स्वप्न का शरीर कल्पित ही है। इसी प्रकार प्रभो! आप भी अपनी माया से इस सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड की-चराचर जगत् की-रचना करते हैं और फिर उसमें निर्लेप रहकर भी अनुप्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि आपके बिना किसी की सत्ता प्रतीत ही नहीं हो सकती आप उसमें जब तक अनुप्रविष्ट न हों, तब तक यह नानात्व उद्भासित ही न हो। आपकी सत्ता से ही तो यह सब भास रहा है। जैसे बीज से अंकुर होता है और बीज ही वृक्ष बन जाता है, फिर जड़ को खोजो तो बीज दिखायी ही न देगा। क्योंकि बीज ही अंकुर बनकर उसने वृक्ष का रूप रख लिया है। बीज ही वृक्ष के अणु परमाणु में अनुप्रविष्ट हो गया है, यद्यपि वृक्ष की जड़ में वह बीज खोजने पर भी नहीं मिलता, किन्तु आप तो अपने अनन्य भक्तों के हृदय में प्रकट

होकर साक्षात् दर्शन भी देते हैं। आप विशुद्ध चित्त वाले भक्तों के ही हृदय में प्रकटित होते हैं, जिनका हृदय शुद्ध नहीं है जो मलिनमति वाले हैं, उनके लिये तो आप अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। चित्त की शुद्धि में पाँच कारण हैं।

चित्त शुद्ध होने का पहिला कारण तो यह है, नित्य आपके सुमधुर नामों का, आपके परम पावन अवतार सम्बन्धी गुणों का श्रद्धा सहित नित्य नियम से साधु पुरुषों के मुख से श्रवण करें। दूसरा कारण है आपके नाम और गुणों का एकाकी या भगवत् भक्तों के साथ कीर्तन करे। तीसरा कारण है शास्त्रीय विधि से यथोपलब्ध सामग्रियों द्वारा आपका पूजन करे। चौथा कारण है आपके निमित्त जो यज्ञयाग, भजन, पूजन, अर्चन, वन्दन तथा नमस्कारादि जो भी कार्य किये जायँ, इनका हृदय से अभिनन्दन करे। तथा पाँचवाँ कारण यह कि जहाँ भी दो भगवत् भक्त मिलें वहाँ अन्य सांसारिक बातें न करके आपके ही सम्बन्ध की चर्चा करें। परस्पर में आपके ही गुणों का उत्साह के साथ कथनोपकथन करें। इन कारणों से तथा ऐसे ही अन्य कारणों से जिनका हृदय पवित्र हो जाता है, उनके हृदय में आप स्वयं प्रकटित होकर दर्शन देते हैं।

यद्यपि आप सबमें सर्वत्र समभाव से व्याप्त हैं। कोई ऐसा जड़ या चैतन्य नहीं जिसके हृदय में आप विराजमान न हों, किन्तु जिनका चित्त लौकिक कर्मों के द्वारा अथवा वैदिक कर्मों के द्वारा विक्षिप्त हो गया है, उन कर्मासक्त अज्ञानियों से आप समीप रहते हुए भी बहुत दूर हो जाते हैं। आप यद्यपि अन्तःकरण में विराजमान हैं, किन्तु आप मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार के विषय नहीं हैं किन्तु जो अपने मन को, अपनी बुद्धि को, अपने चित तथा अहंकार को आपके गुणों के श्रवण, मनन, कीर्त-

नादि में लगा देते हैं, निरन्तर आपका ही गुणगान करते रहते हैं उनके आप अति निकट हो जाते हैं; उन्हें अन्तःकरण में ही दिखायी देने लगते हैं।

भगवन्! हम आपके सम्बन्ध में क्या कहें आप वाणी के विषय ही नहीं, फिर भी वाणी की सार्थकता इसी में है कि आपके सम्बन्ध में कुछ कहती रहे। अतः आप सर्वगुणसम्पन्न हैं। आप अपने भक्तों को-अध्यात्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानियों को अपना परम धाम देने वाले हैं। इसके विपरीत जो ज्ञानी नहीं हैं अज्ञानी हैं, आपके श्रवण कीर्तनादि से पराङ्मुख हैं, उन देहाभिमानियों को आत्मा से भिन्न बारम्बार जन्ममरण देनेवाले संसार की प्राप्ति करानेवाले हैं। त्रिगुणात्मक जगत् की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है तथा महत्तत्वादि जो उसके कार्य हैं आप इन कार्य कारण सभा के नियामक हैं, चलानेवाले हैं। शासनकर्ता हैं। आपने अपनी योगमाया से अपने को इस प्रकार छिपा लिया है, कि आप दूसरों के सामने प्रकाशित नहीं होते। अज्ञानी जीवों की दृष्टि पर आपने ऐसा पर्दा डाल दिया है, कि सबमें सदा सर्वत्र रहने पर भी अविद्या के कारण आपको लोग देख नहीं सकते, किन्तु आप स्वयं अपनी माया से अनाच्छादित हैं। योगमाया की यवनिका पहिनने पर भी वह आपको किसी भी अंश में स्पर्श नहीं कर सकती आप उससे सर्वथा निर्लिप्त हैं। आप परब्रह्म हैं, परम आत्मतत्व हैं ऐसे आप सर्वेश्वर सर्वाधार प्रभु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे देवाधिदेव! हे प्रभो! आप हमें आदेश दें, उपदेश दें, आज्ञा प्रदान करें हम आपकी क्या सेवा करें कैसे सेवा करें। स्वामिन्! संसार में क्लेश तभी तक है, जब तक जीव को आप का साक्षात्कार नहीं हो जाता। आपके दर्शन नहीं हो जाते। जब

आपके दर्शन हो जाते हैं, तब सभी प्रकार के क्लेश अपने आप ही भग जाते हैं, आपका साक्षात्कार होने पर जीव कृतार्थ हो जाता है, वह सभी प्रकार की आधि व्याधियों से विमुक्त होकर परमपद का अधिकारी बन जाता है। प्राणियों के जहाँ आप दृष्टिगोचर हुए तहाँ उसे कोई कर्तव्य शेष रहता नहीं। वह स्वस्थ होकर सोता है, मृत्यु उससे भयभीत होकर भाग जाती है। मैं कैसा भाग्यशाली हूँ, कि मुझे आपके साक्षात् दर्शन हो गये। मेरे यह लोक परलोक दोनों ही बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्विजवर श्रुतदेवजी ने जब भगवान् की इस प्रकार स्तुति की, तब भगवान् ने उन्हें अपने साथ आये हुए ऋषि मुनियों की भक्तिभाव से पूजा करने की आज्ञा दी। श्रुतदेव ने वैसा ही किया। यह मैंने द्विजवर श्रुतदेवकृत श्रीकृष्ण स्तुति कही अब जिस प्रकार श्रुतियों ने भगवान् की स्तुति की वह अत्यन्त दुरूहज्ञान सम्पन्न वेदस्तुति को मैं आपसे कहूँगा। आशा है आप इस परम गम्भीर श्रुतिसार रूप विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

करमनि में विक्षिप्त चित्त तिनि दूर दिखाओ।
करें सतत गुनगान तिनहिँ हियमाहिँ लखाओ॥
ज्ञानिनिकूँ परधाम देहु अज्ञनि बन्धन जग।
शासक कारन काज करो माया न बँधौ अग॥
प्रभु दरसन तैं क्लेश दुख, मिटैं पूर्न सब काम हैं।
सेवा सौंपैं मोइ हरि, चरननि माहिँ प्रनाम हैं॥

पद

दरस दै दीन दास अपनायौ।
मिले रहो तब तैं सबई तैं, जबतैं जगत बनायौ ॥१॥
स्वपन माहिँ ज्यौं रचहिँ पदारथ, आपुहिँ आप लखायौ।
माया तैं त्यौं जगकूँ रचिकें, पुनि तातें बिलगायौ ॥२॥
जिनि तव पूजन अरचन कीन्हों, श्रवन करयो गुनगायौ।
चरचा करैं परस्पर तुमरी, उन हिय दरस दिखायौ ॥३॥
फँसे करम बन्धन में जे नर, तिनि नहिँ दरसन पायौ।
निशि दिन गान करैं, गुन जे जन, तिनि अति निकट लखायौ ॥४॥
ज्ञानिनि ज्ञान ब्रह्म भवदाता, कारन काज चलायौ।
तोहिँ दरस दुख प्रभु सब नासें, चरनकमल सिरनायौ ॥५॥

श्रुतदेव द्विजकृत कृष्ण स्तुति

श्रुतदेव उवाच

नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥१॥

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥२॥

शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम् ।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥३॥

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥४॥

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने,
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे,
स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥५॥

स त्वं शाधि स्वभृत्यान् नः किं देव करवामहे ।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद् भवानक्षिगोचरः ॥६॥

वेद स्तुति (१)

(१२०)

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणाम्
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अग जगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते।
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥१

(श्री भा० १० स्क० ८७ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

ज्यों सोवत सम्राट प्रात मिलि सूत जगावैं।
त्यों शक्तिनि सँग सुप्त ब्रह्म श्रुतिगन गुन गावैं॥
प्रलय अन्त जय होहि करें प्रतिपादन प्रभु गुन।
जय हो जय हो अजित! चराचर जिनि आश्रय तन॥
करहिं अविद्या दूर हरि, जो है दोष गृहीत गुन।
हैं स्वभाव तें आपु प्रभु, सब भगयुत शोभा सदन॥

---

१ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे अजित! आपकी जय जयकार हो। यह जो दोषों के लिये गुणों को ग्रहण करनेवाली माया है इसको नाश कीजिये। आप समस्त ऐश्वर्यों से स्वभावसे ही परिपूर्ण

ः संसारी बद्ध जीव विषयों की प्राप्ति के लिये ही सतत प्रयत्न करेंगे, उनके समस्त कार्य विषयों के संग्रह के ही निमित्त होते हैं। वे कार्य तो विषय सामग्री जुटाने को करते ही हैं, साथ ही निरन्तर उसी विषय को सोचा भी करते हैं। यदि मैं ऐसा न करता तो यह वस्तु मुझे अवश्य प्राप्त हो जाती। मेरे शत्रु का पराभव हो जाता। अब आगे से ऐसा करूँगा इत्यादि इत्यादि। जब तक जागते रहेंगे तब तक मन ऐसी ही धुनाधुनी में लगा रहेगा। सो जायेंगे तो स्वप्न में भी इन्हीं बातों को देखेंगे। सारांश यह है कि मूली खाओगे तो डकार भी मूली की ही आवेगी। गौ भैंस आदि पहले तो घास को वैसे ही थोड़ा चबाकर निगल जाती हैं फिर जब एकान्त में बैठती हैं, तो जुगार करती हैं, उस चबाये हुए को फिर से चबाती हैं। यही बात परमार्थ पथ के पथिकों की है। संतगण प्रथम तो प्रभु प्राप्ति के लिये पूर्ण प्रयत्न करते हैं, साधन, भजन, सत्संग तथा स्वाध्यायादि करते हैं जब प्रभु प्राप्ति हो जाती है, ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है, तो फिर भी उन्हीं कार्यों को करते रहते हैं। उन्हें न करें तो और करें भी तो क्या करें। बिना कुछ किये रहा नहीं जाता, कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। इसलिये वे भगवच्चर्चा करते हुए कालक्षेप करते हैं। उपदेश तो यह होता है, कि श्रोताओं में जो श्रेष्ठ हो विद्वान् हो वह अपने से कम समझने वालों को उपदेश दें, उनका कर्तव्य बतावे। न करने योग्य कामों को छोड़ने का उपदेश दें आदि आदि। किन्तु जहाँ से एक ज्ञान वैराग्य और सदाचार के बहुत से संत एकत्रित हो

है यह माया चराचर शरीर ही जिनके आश्रय हैं ऐसे जीवोंके समस्त आनंद को ढक लेती है। वेद आपका कभी माया के साथ कभी मायारहित स्वरूप का वर्णन करते हैं।

जायँ, वहाँ उपदेश तो बनता नहीं, क्योंकि वे सबके सब उस विषय के ज्ञाता हैं, वे आपस में से किसी एक को वक्ता बनाकर ब्रह्म के विषय में चर्चा करते हैं, उसे ब्रह्मसत्र कहते हैं। जहाँ एक से ज्ञान के कर्मकांडी एकत्रित होकर किसी एक को यजमान बनाकर यज्ञ करते हैं उसे कर्मसत्र कहते हैं, और जहाँ एक स्वभाव के भगवत्भक्त एकत्रित होकर भगवच्चर्चा करते हैं उसे कालक्षेप कहते हैं। वह स्थान धन्य है जहाँ ब्रह्मसत्र कर्मसत्र अथवा कालक्षेप होता हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित् ने मेरे गुरुदेव भगवान् श्रीशुक से यह पूछा कि प्रभो! जो अनिर्देश्य है जो सत् असत् कार्य कारण से पर गुणरहित है उस निर्गुण ब्रह्म का गुणमयी श्रुतियाँ साक्षात् प्रतिपादन कैसे कर सकती हैं, तब भगवान् शुक ने राजा को जनलोक में हुआ और भगवान् नारायण द्वारा नारदजी से कहा हुआ ब्रह्मसूत्र का उपाख्यान सुनाया। एक बार नारदजी घूमते घामते भगवान् नर नारायण के निवास स्थान बदरिकाश्रम पर गये। उस समय भगवान् नारायण बदरी वन में निवास करने वाले ऋषियों से घिरे बैठे थे। नारदजी ने दंड प्रणाम करके यही प्रश्न भगवान् से किया। भगवान् ने कहा— "नारद! तुमने जो विषय पूछा है इसकी चर्चा जनलोक में कुमारों के ब्रह्मसत्र में छिड़ी थी। तुम उस समय जनलोक में नहीं थे। जनलोक में वे ही लोग निवास करते हैं। जिन्होंने कभी विवाह नहीं किया स्त्री प्रसङ्ग से सदा जो रहित रहे हैं, यद्यपि तुम बाल ब्रह्मचारी हो जनलोक में रहते हो, किन्तु तुम्हारी प्रकृति घुमक्कड़ है इसलिये जब यह कुमारों का ब्रह्मसत्र हुआ था, तब तुम श्वेतद्वीप में मेरे दर्शनों को चले गये थे। इसीलिये तुम उस सत्संग से वंचित रहे। उस सत्संग में ब्रह्म विचार का बड़ा

अद्भुत विवेचन हुआ। सनन्दनजी ने इसी प्रसङ्ग में वेदों की श्रुतियों ने जैसे भगवान् की स्तुति की वह विषय कहा।

प्राचीन काल से यह परिपाटी प्रचलित है, कि सम्राट् जब सुखद शैया पर शयन करता है और सोते सोते जब ब्राह्ममुहूर्त हो जाता है, तब उसे सम्मानपूर्वक जगाने के लिये सूतमागध वन्दीगण आते हैं। वे राजा के सुयश का गान करते हैं, उस गायन को सुनकर सम्राट् शैया का परित्याग करके अपने नित्य नैमित्तिक कार्यों में प्रवृत्त होता है।

इसी प्रकार जब भगवान अपने रचे हुए सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को अपनी शक्तियों सहित अपने में लीन करके शेष की सुखद शैया पर सुखपूर्वक शयन करते हैं और जब प्रलय का अवसान हो जाता है, तब भगवान के आश्रय में ही रहने वाली श्रुतियाँ भगवान् के यश का प्रतिपादन करने वाले वचनों द्वारा उन्हें जगाती हैं, उन्हें पुनः सृष्टि करने के लिये प्रेरित करती हैं। श्रुतियों ने जो स्तुति की है, उन्हीं से तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। अब प्रथम वर्ग की कुछ श्रुतियों ने मिल कर भगवान् की स्तुति की।

वे श्रुतियाँ भगवान को प्रबुद्ध करने की इच्छा से स्तुति करती हुई कहने लगीं—"हे प्रभो! आप अब उठिये। आप निद्रा के वश में नहीं हैं। संसारी लोग तो निद्रा के वशीभूत होकर सोते हैं। वे निद्रा द्वारा जीते जाते हैं, किन्तु आपको कोई जीत ही नहीं सकता, क्योंकि आप अजित हैं। आप निद्रा के वश में नहीं हैं आप ने स्वेच्छा से योगनिद्रा को स्वीकार किया है। अब उसके अवसान का अवसर है अतः आप अब उठिये। आपका अधिकाधिक उत्कर्ष हो। आपकी जय हो जय हो। आप तो जय स्वरूप ही हैं, आपके गुणों का हमारे हृदय में उत्कर्ष बढ़े यही

आप की जय है, यही विजय है। प्रभो ! ये जो सम्पूर्ण जीव हैं इनका आश्रय ये स्थावर जंगम शरीर ही हैं। यह जीव शरीर के बिना ठहरता नहीं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर इन्हीं में जीवों की अवस्थिति है। जीव तो आपका अंश ही, आप का स्वरूप ही है, आनन्दादि जितने आपके गुण हैं वे सब इनमें विद्यमान हैं, किन्तु आपकी जो यह माया है, जो अजा कहलाती है जो सफेद काली और लाल बकरी की भाँति है। जो सब कुछ खा लेती है और मैं मैं चिल्लाती रहती है इसने जीव के सभी गुणों को आच्छादित कर रखा है। यह स्वैरिणी स्त्री की भाँति दूसरों को प्रतारण करने के लिये वंचना करने लिये ठगविद्या के लिये ही इसने गुणों को धारण किया है।

आप इसे मारिये, प्रतारणा कीजिये, दंड देकर दबाइये। इस आप की मनमोहक अविद्याने ही जीवों को जनम मरण के चक्कर में फँसा रखा है। और किसी के वश की यह बात नहीं है कि इस विचित्र चरित्र वाली माया को दंड दे सके। आप तो सर्वज्ञ हैं, सर्वविद् हैं। सत्य स्वरूप हैं, ज्ञानघन हैं, अनादि अनन्त हैं सर्व व्यापक ब्रह्म हैं। आप आत्मा में रहते हैं, आत्मस्वरूप हैं। परमात्मा हैं। आप दिव्य गुण वाले हैं; आत्मबुद्धि प्रकाशक हैं। ब्रह्माजी को आपने ही उत्पन्न किया है, जिन्होंने चराचर विश्व की रचना की है। वेद भी आपकी ही निश्वास हैं। ये जितने भी प्राणी हैं सब आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आप में ही रहते हैं और अन्त में आप में ही विलीन हो जाते हैं। आप समग्र ऐश्वर्य से समस्त पराक्रम से समस्त यश तथा श्री से और ज्ञान तथा वैराग्य से युक्त हैं इसीलिये आप भगवान् कहलाते हैं। हे प्रभो ! आपकी जितनी भी शक्तियाँ हैं उन समस्त शक्तियों के एकमात्र जाग्रत करनेवाले हैं। समस्त शक्तियाँ आपके ही अधीन हैं। आप

सर्वशक्तियान् हैं। समस्त वेद आप का ही अनुसरण करते हैं, आप जो कह देते हैं, वेद वैसी ही वाणी बोलते हैं । आप उन्हें जैसा बता देते हैं वैसा ही वे आपके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् आपकी निश्वास ही वेद बन गयी हैं। कभी तो वेद आपका वर्णन उस दशा का करते हैं जब आप माया के साथ क्रीड़ा करने लगते हैं। तब वेद कहते हैं–उन प्रभु ने बुद्धि, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा समस्त लोकों को उत्पन्न किया । वे प्रभु ही सब जनों के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर सब का शासन कर रहे हैं। उन्होंने लोकों की सृष्टि की कामना की। इस सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि करके उसी में वे प्रभु प्रवेश कर गये, इस प्रकार के अनेकों वाक्यों से वे आपको जगत् का बनाने वाला, उसका पालन करने वाला, उसका संहार करने वाला, जीवों का शासक, रक्षक उत्पादक बताते हैं और कभी वेद आपके स्वस्वरूप में स्थित रहने वाले स्वरूप का वर्णन करते हैं । उस समय आपका जीवों से जगत् के पदार्थों से कोई सम्बंध ही प्रतीत नहीं होता। उस समय वेद कहते हैं–वह ब्रह्म अरूप है, अस्पर्श है, वह रस रूप है। वह सत्य स्वरूप है,ज्ञान स्वरूप है,आनंद स्वरूप है। वह एक है अद्वय है। इत्यादि वाक्यों से आपके आत्मस्वरूप का निरूपण करते हैं। आप ही सब करते कराते हैं। अतः आपकी सृष्टि के आरंभ का काल उपस्थित हो गया है। अपनी शक्तियों सहित प्रबुद्ध हो कर पुनः सृष्टि संचालन कीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार कुछ श्रुतियाँ ऐसे स्तुति करके जब चुप हो गयी तब दूसरी श्रुतियों का समूह उठा वे अब जिस प्रकार भगवान् की स्तुति करेंगी, वह प्रसंग मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

प्रभु समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश सिरी सहित हैं।
ज्ञान और विज्ञान युक्त आनँद सत चित हैं॥
अवबोधक सब शक्ति जगत कूँ आपु बनावें।
पालन सब को करें समेटें पुनि सो जावें॥
आत्मरूप तैं थिर रहें, माया सँग क्रीड़ा करें।
द्वै रूपनि तैं वेद सब, प्रतिपादन करि भय हरें॥

पद

अजित हम जय जयकार मनावें।
सुखद शेष शैया पै सोवत, सब श्रुति आइ जगावें॥१॥
सब जीवनिकूँ मोहै माया, सद्गुन सब बिसरावें।
आनन्दादि गुननि ढकि लेवै, ताकूँ मारि भगावें॥२॥
सब गुन सागर सब सम्पतयुत, शक्तिनि काम लगावें।
मायारहित सहित कहि वेदहु, उभय रूपतैं गावें॥३॥

वेद स्तुति (२)

(१२१)

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया,
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचना चरितम्
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८७ अ० १५ श्लोक)

छप्पय

दृश्यमान चर अचर जगत जो सुनें लखावें ।
परब्रह्म को रूप वेदवित बिप्र बतावें ॥
प्रलय काल में वस्तु नाश ह्वै जावें सबही ।
शेष रहै नहिं कछू आपु रहि जावें तबही ॥
प्रभु निरगुन ही तैं प्रलय, उतपची होवै जगत ।
मिट्टी तैं उत्पन्न घट, पुनि मिट्टी ही में मिलत ॥

हम जन्म मरण के चक्र में क्यों फँस जाते हैं । क्यों आवागमन के जाल में फँस जाते हैं, क्यों बारम्बार नाना योनियों में

---

* भगवान् को जगाते हुए श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे प्रभो ! यह जो इतना भारी जगत् प्रतीत हो रहा है उसे ज्ञानी लोग आप परमात्मा का ही स्वरूप मानते हैं । क्योंकि प्रलय में एकमात्र आप ही अवशेष रह जाते हैं,.

क्लेश सहते हैं? इसलिये कि हमने अपनी सत्ता पृथक् समझ रखी है। जगत् को भगवान् से भिन्न मान लिया है। वास्तव में ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की (कल्पना) भी नहीं हो सकती और उसका अस्तित्व संभव नहीं। एक बालक मिट्टी से खेल रहा है। मिट्टी का उसने एक घर बनाया। पेड़ों की छोटी टहनी तोड़ तोड़ कर गाड़ दीं यह बगीचा बन गया। गीली चिकनी मिट्टी के बैल बनाये। मिट्टी के ही घोड़ा हाथी बनाये, मिट्टी की चकी बनायी, चूल्हा बनाया। मिट्टी का तवा मिट्टी की रोटी। उसने गृहस्थी की जितनी सामग्री है मिट्टी से ही बना लीं। खेलते खेलते जब ऊब गया। सब कुछ बिगाड़ दिया। मिट्टी का ही सब बनाया था। बन गया तब भी सभी पदार्थ मृण्मय ही थे। अन्त में जब खेल समाप्त हो गया तब भी सब मिट्टी में ही मिल गये। खेलने वाले ने अपनी सुविधा के लिये नामों की रूप की कल्पना कर ली थी। उनमें से नाम रूप की कल्पना हटा दी जाय सब मिट्टी ही है। न भी हटाओ तो मिट्टी के तो वे हैं ही। इसलिये जगत् भी भगवान की क्रीड़ा का उपकरण मात्र है। जैसे मकरी अपने उदर से ही जाला निकालती है जाल बनाती है। इच्छानुसार कुछ काल तक विहार करती है, फिर उस सबको निगल जाती है। इसी प्रकार भगवान् अपने आप में से ही सब निकाल कर जगत् को बनाते

-इस जगत का उदय और अस्त आपसे ही है, जैसे मिट्टी के बर्तनों की उत्पत्ति प्रलय मिट्टी से ही है। इससे ऋषिगण- मन वचन से प्रतीत होने वाले जगत् को आप में देखते हैं। मनुष्य कहीं भी पैर रखे पृथिवी पर ही रहेगा।

हैं। बनाये हुये जगत् से इच्छानुसार कुछ काल तक खेलते हैं; फिर सबको समेट कर उदरस्थ कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब श्रुतियों का एक यूथ स्तुति करके चुप हो गया तो दूसरे यूथ की श्रुतियाँ कहने लगीं—"प्रभो! यह जगत् आपका ही स्वरूप है, जैसे बीज ही वृक्ष बन जाता है और अंत में वृक्ष पर बीज लगकर वे बीज भी वृक्ष बनाने में समर्थ होते हैं। लकड़ी पत्ते फूल और फल जब नष्ट हो जाते हैं, तो बीज ही बच जाता है। इसी प्रकार प्रलय कालमें जितने जो ये घट पटादि दृश्य पदार्थ हैं, सभी लय हो जाते हैं, सबका अदर्शन हो जाता है, सब लोप हो जाते हैं, केवल आप ही आप अवशेष रह जाते हैं। जगत् को आप अपने से ही निर्माण करते हैं, असंख्यों प्रकार के रूप बनाते हैं, उनके असंख्यों नाम रख देते हैं। जैसे मिट्टी के घट सकोरा दिवले, हंडी, परिया कुल्हड़ और न जाने कितने प्रकार के बर्तन बनते हैं। दीखने में उनके आकार प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं, उन पर चूना, गेरू, पीली मिट्टी और अनेक प्रकार के रंग पोतकर उनके रङ्ग भी पृथक् बना दिये हैं, उन सबके नाम भी भिन्न भिन्न रख दिये हैं, किन्तु ये नाम और रूप दोनों ही मिथ्या हैं दोनों ही नाशवान आद्यन्तवन्त हैं सत्य उन सब में मिट्टी ही है।

चीनी के हाथी, घोड़ा, ऊँट बछेड़ा आदि भिन्न भिन्न प्रकार के खिलौने बना दिये हैं, उनके नाम, रूप, रङ्ग तथा आकृतियाँ भिन्न भिन्न हैं किन्तु अंत में केवल चीनी ही चीनी अवशेष रह जायगी, खिलौनों का अंत हो जायगा। जिससे जिस वस्तु का निर्माण होता है, उसमें सत्य पदार्थ वही है, जिसका वस्तुओं के नाश हो जाने पर स्वयं का नाश नहीं। सुवर्ण से कटक,कुंडल, वर्तन आदि सभी बनते हैं, सभी आकार प्रकार नाम रूप भिन्न भिन्न हैं।

किन्तु आकार प्रकार नाम रूप सत्य नहीं हैं, सत्य तो एक मात्र सुवर्ण है जो सबके न रहने पर भी बना रहे।

पानी जमकर हिम बन गया। उस हिम खंड को काट काट कर पशु पक्षी नाना प्रकार के हिम के खिलौने बना लिये हिम के बने ये खिलौने उनके नाम रूप सत्य नहीं है, सत्य तो जल ही है, जो खिलौनों के नष्ट होने पर, हिम के गल जाने पर भी वह ज्यों का त्यों बना रहेगा।

इसी प्रकार प्रभो! इस जगत् की उत्पत्ति आप निर्विकार ब्रह्म से ही हुई है, आप में ही यह स्थित रहता है और अन्त में आप में ही लीन भी हो जाता है। इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति तथा प्रलय के भी आप ही कारण हैं। आपसे उत्पन्न होकर यह जगत् आप में ही लीन हो जाता है। अतः अज्ञ लोगों को ही इसमें नानात्व दिखायी देता है। किन्तु जो विज्ञ हैं, तत्वदर्शी हैं मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं, वे जगत् में जितने वाणीद्वारा व्यक्त किये जाने वाले पदार्थ हैं, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य वस्तुएँ हैं मन जहाँ तक मनन कर सकता है, जितने पदार्थों की कल्पना कर सकता है, सब आप ही हैं। आपकी सत्ता से ही पदार्थों की सत्ता है, आपके अस्तित्व से ही जगत् की वस्तुओं का अस्तित्व है जैसे पक्षी किसी भी देश मे उड़े वह आकाश में ही उड़ेगा मनुष्य शैया पर, वृक्ष पर कहीं भी पैर रखे वह भूमि पर ही माना जायगा। मनुष्य पृथिवी के बिना स्थिर रह नहीं सकता। इस प्रकार जितने स्थावर जंगम हैं, चेतन अचेतन हैं, बिना आपके रह नहीं सकते। आप सबके परमकारण तथा अन्तरात्मा हैं जितने यह देह हैं सबके देही आप हैं। सूक्ष्म स्थूल कारण सब शरीरों के शरीरी एकमात्र आप परब्रह्म परमात्मा ही हैं, अतः देव अब उठिये।

इस पर श्रुतियों का तीसरा यूथ कहने लगा—"प्रभो ! माया जीवों के ही आनन्दादि गुणों का आच्छादन करती है। आप तो अपराजित हैं, आपको तो कोई भी किसी भी दशा में पराजित नहीं कर सकता। फिर आप तो इस त्रिगुणमयी माया के अधीश्वर हैं, स्वामी हैं भर्ता हैं। आपके सम्मुख तो यह बोल भी नहीं सकती। आप माया को उसी प्रकार नचाते हैं जैसे वीणावादक मृगी को नचाता है। आप ही सबकी गति हैं। आप सबके स्वामी हैं, सब आप में ही निवास करते हैं, सबके एकमात्र शरण आपही हैं, सबके सच्चे सुखदाता सुहृद् भी आप ही हैं। इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय के कारण आप ही हैं आप अव्यय हैं तथा सबके बीज हैं। स्वामिन् ! जीवों को दैहिक दैविक तथा भौतिक ताप सन्तप्त कर रहे हैं, इनसे इनका छुटकारा किस प्रकार हो। वेद तो आज्ञा देते हैं शान्त, दान्त, उपरत तथा तितिक्षु होकर अपने आपसे ही आत्मा को देखे। जीव स्वतः कैसे शान्त बन सकता है, कैसे मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकता है। जीव अपने पुरुषार्थसे अपने आप स्वयं प्रकाशित आत्मा को कैसे जान सकता है। प्रतीत होता है, अहंकार युक्त आरम्भ के साधकों को साधन में प्रवृत्त करने को वेद ने ऐसे उत्साहपूर्ण वाक्य कहे हैं। नहीं तो दूसरे स्थान पर वेद ही आज्ञा दे देते हैं—"बहुत से शब्दों को शास्त्रों को न पढ़े, क्योंकि ये सब वाणी का विग्लापन मात्र ही हैं, वाणी का विलाश ही है। भगवान् के नाम ही उनका महद्यश है। भगवान् के वीर्य का, पराक्रम का, उनके कर्मों का वर्णन कौन कर सकता है। ऐसा साहस वही करेगा जो समस्त पृथिवीके रज कणों की गणना कर सके।" इससे यही सिद्ध होता है, कि जीव एकमात्र आपका ही आश्रय ले ले, आपके ही प्रपन्न हो जाय। आप ही सम्पूर्ण लोकों के समस्त जीवों के मल को

दूर करने वाले हैं। इसीलिये जो विवेकी हैं, भगवत्भक्त हैं आपके चरणारविन्दों के आश्रित हैं वे सभी काया को क्लेश देने वाले तपों को छोड़कर एकमात्र आपकी त्रैलोक्यपाविनी कथा का ही श्रवण करते हैं। समस्त लोक के पापों को नष्ट करने वाला आपका कथामृत सिन्धु है। उसमें जो अवगाहन करते हैं, डुबकी लगाकर उसमें निमग्न हो जाते हैं वे समस्त संतापों का त्याग देते हैं, फिर उन्हें आधिदैविक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक किसी भी प्रकार के संताप संतापित नहीं कर सकते। आपकी कथा अमृत के समान है, वह जनम मरण के चक्कर से छुड़ाने वाली है, समुद्र के समान अगाध अनन्त है, हृदय में पहुँच कर वह अनन्त विस्तार वाली बन जाती है ऐसी कथा को जो बड़भागी प्रेमपूर्वक श्रवण करते हैं, वे सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाते हैं। यह माहात्म्य तो कैसे भी जो कथा सुनते हैं उनका है किन्तु हे परमपुरुष! जिनके मनके राग लोभादि दोष नष्ट हो गये हैं। जिन्हें निखिल कल्याणगुणसम्पन्न सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक आपके सद्स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया है और जिनके काम कृत जरामरणादि दोष नष्ट हो गये हैं, ऐसे जो महानुभाव संत हैं जो समाधि में सदा आपका साक्षात्कार करते हैं, अथवा जो आपके धाम में सदा वास करके सतत सुखानुभव स्वरूप आपके चरणारविन्दों का भजन करते हैं, ऐसे बड़भागियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। उनके तो सभी प्रकार के दैहिक दैविक भौतिक ताप संताप सब नष्ट हो ही जायँगे। जो कथा श्रवण के पश्चात आपका ध्यान, चिंतन, पादपूजन, वन्दन करते हैं आपके लोक में रहते हैं वे तो कृतार्थ हैं, उनके समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं, वे इस असार संसार को पार करके आपके पद को प्राप्त कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रकार स्तुति करके श्रुतियों का एक समूह चुप हो गया। अब चौथा यूथ आया, उस यूथ की श्रुतियाँ जैसे स्तुति करेंगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

धरै मनुज पद कहूँ परैं पृथिवी पै जैसे।
मनबानी तैं भास आपु में थित जग तैसे॥
नाथ कथामृत सिन्धु सकल मल नाश करावै।
जो अवगाहैं सतत शोक सन्ताप भगावै॥
जरामरन रागादि तजि, सुख अनुभव पद लहिं यथा।
प्रभु स्वरूप पद भजहिं जे, तिनि सन्तनि की का कथा॥

पद

सब कछु ब्रह्महिं ब्रह्म लखावैं।
जब होवै संहार जगत को, शेष आपु रहि जावैं॥१॥
ज्यों घट मिट्टी तैं ही उपजैं, मिट्टी माहिं समावैं।
पृथिवी वासो धरें चरन कहुँ पृथिवी माहिं कहावैं॥२॥
तुमरी कथा सकल मल नासैं, मन संताप भगावैं।
कथासिन्धु जे गोता मारें, शान्ति सतत ते पावैं॥३॥
जिनिके राग द्वेष दुख छूटैं, जो नित चरननि ध्यावैं।
ते प्रभु प्यारे धन्य संतजन, तुमरे रूप कहावैं॥४॥

वेद स्तुति (३)

(१२२)

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८७ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

ते जगमें अति धन्य भजन जे करें तिहारो ।
भस्त्रा सम तिनि स्वाँस लैहिं नहिं नाथ सहारो ॥
जिनि प्रसाद महदादि विश्व ब्रह्माण्ड बनावें ।
अन्नादिक सब कोश माहिं जो पुरुष लखावें ॥
सब में अनुगत अवधि जे, कारज कारन पर प्रभो ।
प्रलय माहिं अवशेष जो, सत स्वरूप तुमही विभो ॥

मानव जीवन का फल इतना ही नहीं है कि किसी प्रकार पेट भर के जीवित रहें । यदि यही मानव जीवन का लक्ष्य होता तो कीट पतंग, पशु पक्षी तथा वृक्षादि से शास्त्रों में मानव जन्म

---

*भगवान् की स्तुति करती हुईं श्रुतियाँ कह रही हैं—भगवन् ! वे लोग लुहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ ही श्वास लेते हैं जो आपका अनुसरण नहीं करते । सफल जीवन उन्हीं का ही है जो आप को भजते हैं । जिनके

को श्रेष्ठ क्यों माना जाता, तब तो वह पशु पक्षी वृक्षादि के ही समान है। मानव जन्म की विशेषता यही है, कि इसके द्वारा भगवान्का भजन किया जाय, भगवान्का साक्षात्कार किया जाय जो ऐसा न करके पेट भरने और सोने आदि में ही समय बिताते हैं, वे तो बद्ध जीव हैं, बार बार जन्मते हैं मरते हैं और चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई अन्य श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! मानव जीवन की सार्थकता आप के भजन में ही है, जो आप का भजन, ध्यान, कीर्तनादि नहीं करते, तो जीवित ही मृतक तुल्य हैं। अन्तर इतना ही है, कि मृतक व्यक्ति साँस नहीं लेता, ये लोग स्वाँस लेते हैं। स्वामिन्! स्वाँस लेना ही कोई जीवन का चिन्ह नहीं है। यदि स्वाँस लेना ही जीवन हो तो लुहार की मृतक चर्म की धौंकनी तो बड़े वेग से स्वाँस लिया करती है। उसका स्वाँस लेना पर संताप के लिये ही होता है। जो धातुएँ शीतल हैं अपने स्वभाव में स्थित हैं—उन्हें संतप्त करना ही उस मृतक धौंकनी की स्वाँस का उद्देश्य होता है। उसी प्रकार जो भजन नहीं करते ऐसे प्राणपोषक पुरुष अपने जीवन से परसंताप ही पहुँचाते हैं। वे आत्मघाती हैं, ऐसे अज्ञ बहिर्मुख व्यक्ति इस लोक में तथा परलोक में भी भार भूत ही होते हैं। जीवन का लक्ष्य

अनुग्रह से महत्तत्व तथा अहंतत्वादि तत्व इतने बड़े विश्व ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं, जो पुरुष रूप से अन्नमयादि कोशों में अनुगत हैं, जो कोशों की चरमावधि हैं अर्थात् आनन्दस्वरूप हैं। जो सत् असत् से परे हैं वे और कोई नहीं आप ही हैं जो सब के नाश होने के अनन्तर भी अवशेष रह जाते हैं।

खाना पीना और जीवित बने रहना ही नहीं है। जीवन की सार्थकता इसी में है, कि प्राणी आप का अनुसरण करे, वेदादि में बतायी हुईं आपकी आज्ञाओं का श्रद्धा भक्ति से पालन करे। जो ऐसा नहीं करते वे कृतघ्नी हैं, कृतघ्नी की किसी प्रकार भी निष्कृति नहीं होती। प्राणीमात्र को आप का भजन करना ही चाहिये। क्योंकि सभी प्राणी आपकी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं। सृष्टि होती है प्रकृति, महतत्व, अहंतत्व, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण, देवता, तन्मात्रा तथा पंचभूतों से। स्वयं महतत्वादियों में सृष्टि रचने की शक्ति नहीं। ये तो सब जड़ हैं। जब तक आप चैतन्य रूप से इनमें प्रवेश नहीं करते तब तक किसी की भी सृष्टि संभव नहीं। अतः आप समस्त प्राणियों के जनक हैं। जो अपने पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट नहीं करता वह कृतघ्न है। अतः परमपिता भाव से आप का भजन करना प्राणी मात्र का कर्तव्य ही है।

प्रभो! आपने ही इनकी रचना की है, तथा पुरुष रूप से आप ही इन सब शरीरों में अनुगत हैं। ये जो अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय पंचकोश हैं, उन सबकी अंतिम अवधि चरमकोश जो परमानन्द स्वरूप हैं वह आप ही है। जैसे धातु की आकृतियों को बनाने वाला पहिले मिट्टी आदि का साँचा बना लेता है, जब उसके मनोनुकूल साँचा बन जाता है, तब उसमें जिसका इसे निर्माण करना होता है, उस अन्तिम धातुको उसमें डालता है, बनावटी अन्य स्तरों को सांचे की वस्तुओं को पृथक कर देता है। इसी प्रकार अन्न प्राण, मन तथा विज्ञान ये बाहरी साँचे हैं। आप को तो पुरुष को आनन्दमय बनाना है, आनन्द ही उसका स्वरूप है, आनन्द से ही उत्पन्न होता है, आनन्द में ही रहता है, अन्त

में आनन्द में ही मिल जाता है। अतः अन्नादि कोशों की चरमावधि हैं, आप आनन्दमय हैं।

भगवन्! इस चित् अचित् जड़ चेतन तथा कार्य कारण रूप समस्त प्रपंच से परे हैं इसीलिये आपको परमात्मा कहा जाता है। संसार में जो भी उत्पन्न हुआ है, उसका अवश्य नाश होगा। उत्पन्न होने वाले की मृत्यु ध्रुव है, किन्तु आप की सत्ता सदा एक सी बनी रहती है। सब का नाश होने पर भी एक मात्र आप ही अवशिष्ट रह जाते हैं। इसीलिये ऋषिगण आपको सत्य स्वरूप कहते हैं। इस प्रकार आप सत्चित् आनन्द स्वरूप हैं। जगत में जिसकी भी सत्ता है, जो चैतन्य है जहाँ भी आनन्द प्रतीत होता है, वह सब आप का ही स्वरूप है इसी प्रकार शरीर को उत्पन्न करने वाले आप परम पिता होने से, सभी के प्रेरक होने से, आनन्द दाता होने से तथा सत्य के दाता होने से एक मात्र आप ही सेव्य हैं, आप का ही सबको भजन करना चाहिये। जो आप का भजन नहीं करते हैं वे तमसावृत लोकों में जाते हैं और जो आपका भजन करते हैं उन्हें शाश्वती शान्ति प्राप्ति होती है।

स्वामिन्! उपासकों में अनेक मतवाले हैं, कोई आप की किसी रूप से उपासना करते हैं, अन्य किसी दूसरे ही रूप से। ऋषियों ने उपासना के नाना प्रकार बताये हैं। योग मार्ग में सुषुम्ना नाड़ी में षट चक्र बताये हैं मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा। ये क्रमशः गुद, लिङ्ग, नाभि, हृदय कंठ और भौहोंके मध्य में होते हैं। मस्तकमें सहस्रार चक्र है। जो स्थूल दृष्टि वाले हैं वे उदर में अर्थात् मणि पूरक चक्र में वैश्वानर रूप से जो आप निवास करते हैं उनकी उपासना करते हैं। वे शार्करात्त कहलाते हैं। कुछ लोग हृदयमें जो

बारह दल वाला अनाहत चक्र है, जहाँ से सुषुम्ना में से सब ओर को नाड़ियाँ निकलती हैं, जहाँ आप स्वयं ब्रह्म रूप से विराजमान हैं, जिसे दहर विद्या भी कहते हैं उसकी उपासना करते हैं वे लोग आरुणिक संप्रदाय के उपासक हैं। कुछ उपासक व्यापक सुषुम्ना नाड़ी रूप मार्ग में जो हृदय से लेकर मस्तक पर्यन्त व्याप्त है उस सहस्रार चक्र में परब्रह्म रूप से आप की उपासना करते हैं। इसको प्राप्त करके जीव सदा के लिये जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है। वह फिर मृत्यु के मुख में नहीं पड़ता, उसका आवागमन समाप्त हो जाता है।

कुछ साधक जो स्थूल दृष्टि वाले हैं वे कर्मकांड के द्वारा आपकी उपासना करते हैं। अग्निहोत्रादि कर्म से आपका यजन करते हैं। कुछ उपासक लोग हृदय में योगाभ्यास द्वारा भगवत् चिन्तन द्वारा, उपासना द्वारा, आपका चिन्तन करते हैं, आप को भजते हैं। कुछ ज्ञाननिष्ठ जन जो शीर्षस्थानीय हैं आपका परब्रह्म रूप से ध्यान करते हैं। इस प्रकार कोई कर्म रूप से, कोई उपासना रूप से और कोई ज्ञान द्वारा आप को भजते हैं। प्रभो! आप एक अद्वय निरामय हैं। साधकों को जैसी भावना होती है आप उन्हें वैसा ही फल देते हैं। आप सर्वमय हैं और सब के दाता हैं। इसीलिये सर्वभाव से सभी उपासकगण एक मात्र आप को ही नाना भावों से नाना प्रकारों से उपासना करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार जब श्रुतियों का एक समूह भगवान् की स्तुति करके चुप हो गया, तो श्रुतियों का अन्य यूथ आकर भगवान् की स्तुति करने लगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह सभी वेदों का सारभूत सिद्धान्त है। अतः इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

थूल करम जे करहिं उदर में ध्यान लगावें।
दहरोपासक हृदय ब्रह्म करि तुमकूँ ध्यावें॥
सहस्रार में ध्याइ ज्ञान निष्ठा जे राखें।
सम्प्रदाय करि भिन्न भिन्न निज मत कूँ भाखें॥
मार्ग सुषुम्ना हृदयतें, शिर तक व्यापक बृहद् अति।
जीव ताहि पावैं कबहुँ, होहि मुक्ति लहि परमगति॥

पद

भजन बिनु नरतन व्यरथ गँवायौ।
सोये घोर नींद में परिकें, जगे उदर भरि खायौ॥ १॥
स्वाँस धोकनी जैसे लेवै, तैसे समय बितायौ।
जिनकी कृपा बन्यो सबरो जग, तिनि कबहूँ नहि ध्यायौ॥ २॥
सत चित आनँद अनुगत सब में, सबकी अवधि बतायौ।
एक प्रलय में शेष रहे जो, परमानन्द कहायौ॥ ३॥
उदर हृदय सिरमें जिनि ध्यावैं, मारग भिन्न बतायौ।
ध्यावैं प्रभु शिर माहिँ परमपद, पावैं जगत नसायौ॥ ४॥

—:०:—

वेद स्तुति (४)

(१२३)

स्वकृतविचित्र योनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितया स्वमूष्ववितथं तव धाम समम्
विरजधियोऽन्वयन्त्यभि विपएयव एकरसम् ॥*

(श्रीमा० १० स्क० ८७ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

प्रभो ! रचित निज योनि बसो तिनमें तस बनिकें ।
अनल काठ में रहे काठ आकृति में सनिकें ॥
उत्तम चाहें अधम सबनि में नाथ विराजो ।
मकरी सरिस बनाय स्वयं क्रीड़ा करि भ्राजो ॥
जो अति निरमल चित्त मुनि, उभय लोक करमनि विरत ।
इन मायिक रूपनि लखें, इक रस सम प्रभु रूप सत ॥

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—"हे प्रभो ! अपनी ही बनायी हुई विचित्र योनियों में, हेतु से ही प्रविष्ट हुए की भाँति अपनी बनायी आकृतियों का अनुकरण करते हुए काष्ठ में प्रविष्ठ अग्नि के समान तारतम्य से आप प्रकट होते हैं । अतः इस लोक तथा परलोक के कामों से विरत हुए विशुद्ध बुद्धिवाले व्यक्ति इन मिथ्या रूपों में आपके सम, सत्य और एक रस स्वरूप को देखते हैं ।

यह जगत अगाध अनंत भीषण समुद्र है। जीव इसमें अपने स्वरूप को भूल कर न जाने कब से भटक रहा है। श्रीमन्नारायण इसमें सर्वत्र एक रूप से निवास कर रहे हैं, उनका आश्रय न लेकर यह निराश्रय बनकर तड़प रहा है। इस जलमें दो बड़े बड़े कमल खिले हैं। यदि भटकता हुआ जीव उन कमलों का आश्रय लेले तो कभी डूब नहीं सकता। निश्चय ही वह पार लग जायगा। वे कमल भगवान् के चरणारविन्द ही हैं। जिन्होंने उनका आश्रय ग्रहण किया है वे सुख पूर्वक संसार सागर से तर गये हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब पूर्वोक्त श्रुति समूह स्तुति करके विरत हो गया तब श्रुतियों का अन्य यूथ स्तुति करते हुए कहने लगा। श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! आपने ही इन सब चौरासी लाख योनियों को बनाया है। इनकी आकृतियाँ भी आपने विविध भाँति की बनायी हैं, ऐसी आकृतियाँ बनायी हैं, कि एक दूसरे से मिलती ही नहीं कुछ न कुछ भिन्नता एक दूसरे से अवश्य होगी। ये योनियाँ क्या हैं एक प्रकार के साँचे हैं, जैसे चीनी या मिट्टी के खिलौना बनाने वाले विविध भाँति के साँचे रखते हैं। हाथी, घोड़ा, चूहा, बिल्ली सभी के भिन्न भिन्न छोटे बड़े साँचे होते हैं। यदि उन साँचों में जो यथार्थ वस्तु है चीनी या मिट्टी तो साँचे किस काम के। चीनी भरने से उसी आकृति का चीनी का घोड़ा बन जायगा, हाथी बन जायगा, चूहा बन जायगा, अँगूठी बन जायगी। उन खिलौनों में आकृति को छोड़कर चीनी ही सर्वत्र व्याप्त है। इसी प्रकार ये विभिन्न योनियाँ साँचे हैं, इनकी आकृति ही नाम रूप है .आप उनमें कारण रूप से प्रवेश करके देवता, मनुष्य, असुर, राक्षस, पशु, पक्षी, तिर्यक स्थावर जंगम के नाम से जाने और कहे जाते हैं।

जैसी योनि आप ने बनायी है उसमें प्रविष्ट होकर आप अरूप भी वैसे रूप वाले दृष्टि गोचर होते हैं। जैसे अग्नि का कोई रूप नहीं, किन्तु यदि वह टेढ़ी लकड़ी में प्रवेश करेगी तो उसी लकड़ी की आकृति वाली टेढ़ी प्रतीत होने लगेगी। मोटी लकड़ी में मोटी, छोटी में छोटी, बड़ी में बड़ी जैसा काष्ठ होगा वैसी ही अग्नि प्रतीत होने लगेगी। लोहे के गोले को अग्नि प्रविष्ट करके लाल कर लो तो उसमें गोल अग्नि दिखायी देगी। लम्बे में लम्बी और कुल्हाड़ी, खुरपी, फावड़ा इनमें प्रविष्ट होने पर इन्हीं के रूप की अग्नि दिखायी देगी। ऐसे ही हे भगवन्! आप भी योनियों के अनुरूप वैसा ही रूप बना कर कारण रूप से-चैतन्यांश से- उनमें प्रविष्ट हो जाते हैं और वैसे ही प्रतीत होने लगते हैं। हे देव! आप एक ही हैं, सभी योनियों में छिप कर रहते हैं, आप सर्वव्यापी हैं, सर्व भूतान्तरात्मा हैं, सभी कार्यों के अध्यक्ष हैं। सम्पूर्ण प्राणियों में अधिवास करते हैं, निवास करते हैं, आप सबके साक्षी हैं, सचेता हैं। आप के सदृश दूसरा कोई भी नहीं आप केवल तथा निर्गुण हैं। फिर गुणों में अनुस्यूत से प्रतीत होते हैं। आप चराचर विश्व की सृष्टि कर के उसी में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। आप ही नाना योनियों में नाना रूप रखकर नाना नामवाले कहलाकर चित्र विचित्र नाना खेल कर हैं।

प्रभो! संसार के जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, वे सब विषम हैं, उनमें किसी में समता नहीं। बस, एकमात्र आप ही ऐसे हैं जो सम हैं, समान भाव वाले हैं। विषम योनियों में आप विषम से प्रतीत होने पर भी सम भाव से ही प्रविष्ट होते हैं। आप ब्रह्म होने से सम हैं निर्दोष हैं। आप में किसी प्रकार की विषमता नहीं कारण कि आप एक रस हैं। लोक में

प्रकृति अनुसार भिन्न भिन्न रस प्रतीत होते हैं, किन्तु आप तो ब्राह्मण में, पुल्कस में, चोर में, सब में समान भाव से रहते हैं। इसीलिये जिनकी बुद्धि निर्मल नहीं है, ऐसे अज्ञानी पुरुष ही आप में विषमता देखते हैं, किन्तु जो निर्मल बुद्धि वाले महानुभाव हैं, रजोगुण तमोगुण से रहित हैं वे सर्वत्र आप को ही निहारते हैं, उनकी सब में ब्रह्म दृष्टि हो जाती है, क्योंकि वे लोग सर्व व्यवहार रहित होते हैं, उनकी इस लोक के कर्म भोगों में तथा परलोक के कर्म भोगों में रति नहीं होती वे, इन भोगों से विरत रहते हैं, वे ही आपके इस सत्य, सम और एक रस रूप का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। जिनकी विषम दृष्टि है तथा उभय लोक के कर्मों में रति है, वे आप के इस विशुद्ध रूप को कभी देख नहीं सकते।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो इसके अनन्तर अन्य यूथ की श्रुतियाँ कहने लगीं—"भगवन्! यह जीव स्वकृत कर्मों द्वारा ही नाना योनियों को प्राप्त होता है। कभी मनुष्य बन जाता है, कभी देवता, असुर, गन्धर्व, गुह्यक, कभी पशु पक्षी कीट पतंग बन जाता है। इन सब शरीरों में विद्यमान माया के गुणों से रहित कार्यकारण आवरण जिसमें नहीं है उस जीव को तत्व ज्ञानी आप सर्वशक्तिमान प्रभु का अंश ही बताते हैं। आप भी आनन्द स्वरूप हैं जीव भी आनन्दांश है। अन्तर केवल इतना ही है कि आप पूर्णानंद है। आप आनन्द से परिपूर्ण हैं, जीव का आनन्द गुप्त है, यह जड़ जगत् तो निरानन्द ही है। जीव का आनन्द मायाकृत गुणों के कारण गुप्त है, वह आप के पाद पद्मों की उपासना द्वारा प्रकट हो जायगा। अतः जीवतत्व का निर्णय कर लेने के अनन्तर विवेक वैराग्यवान् पुरुष का एक ही कर्तव्य अवशेष रह जाता है। वह यह कि आप के चरणार

विन्दों की भक्ति करें । वे चरणारविन्द संसार सागर से सरलता के साथ पार लगाने वाले हैं, भवसागर से उस पार पहुँचाने वाले सुदृढ़ पोत हैं और जितने भी वैदिक कर्म हैं, उनके समर्पण स्थान हैं, सर्व कर्म इन्हीं चरणारविन्दों में समर्पित किये जाते हैं, इनका ही आश्रय ग्रहण करके दुस्तर जो यह संसार है उससे पार लग जाते हैं । इस लिये परमार्थ पथ के पथिक सभी ओर की आशा छोड़कर इन्हीं पावन पादपद्मों का आश्रय ग्रहण करते हैं । तभी जीव का कल्याण हो सकता है ।

भगवन् ! जीव अपने स्वरूप को भूल गया है इसीलिये माया के चक्कर में पड़कर अपने को दुखी अनुभव करता है जैसे सिंहशावक भेड़ियों में रह कर अपने स्वरूप को भूल जाय, जब विवेकी द्वारा उसे सिंह दिखाया जाता है और स्व का स्वरूप भी जल के प्रतिबिम्ब द्वारा बोध कराता है तब उ बोध होता है, कि जो यह है वही मैं हूँ । आत्म बोध तभी होत है जब आप की अनुग्रह हो, आप की कृपा का भाजन बन . स आपकी कृपा प्राप्त हो आपके चरणों की भक्ति हो, य आप आशीर्वाद दें और यही हमें वर भी दें ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार स्तुति करके श्रुतियोंका एक यूथ चुप हो गया, तब एक अन्य यूथ ने आक भगवान् की स्तुति आरम्भ की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा आशा है आप सब इसे शान्त चित्त से श्रवण करने व कृपा करेंगे ।

छप्पय

पुरुष करमवश पाइ योनि सुर नर पशु जलचर।
होइ आवरन रहित आपु को अंश जीव वर॥
जीवतत्त्व यों समुझि विवेकी पंडित ज्ञानी।
विश्व चराचर माहिं सार बातहि यह जानी॥
चैत्र सकल वैदिक करम, करै मुक्त जग वासना।
भक्ति और श्रद्धा सहित, तव पद पदुम उपासना॥

पद

बसौ सब देहनि एक समाना।
देव, मनुज, तिर्यक पशु पच्छी, रचे देह तुम नाना॥१॥
छोटो बड़ो थूल लघु जैसो, होवै तनु को बाना।
अनल काठ के सम जस होवै, तस तुम कृपा निधाना॥२॥
तातैं तजि मिथ्या रूपनि कूँ, पंडित धरि हिय ज्ञाना।
भजे उभय भोगनि तजि तुमकूँ, इक रस सत्य समाना॥३॥
तुमरो अंश जीव यह जान्यो, सब तन रह्यो विलाना।
होवै सुखो भजै प्रभु चरननि, तजि माया अभिमाना॥४॥

वेद स्तुति (५)

(१२४)

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
    श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते-
    चरण सरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

लेउ अवनि अवतार बोध दुरबोध करावन।
प्राकृत बन तनु धारि करो शुभ चरित सुपावन॥
चरित महामृत उदधि न्हाइँ जे सरल भक्तजन।
मुक्ति न इच्छा करें होहिँ श्रम रहित मुदितमन॥
हँस सरिस पद पदुम जे, प्रेम सहित निशिदिन भजें।
तिनि भक्तनि सँग बैठिकें, देह गेह सब सुख तजें॥

जब तक मनुष्य मिश्री को नहीं चखता तब तक नीम की पकी निबोरियों को ही बड़े स्वाद से खाता है, उन्हें ही सबसे मधुर फल समझता है, भाग्यवश कभी उसे मिश्री की एक डली मिल जाय तो उसे वे नीम के फल कड़वे लगने लगेंगे । उसकी मिठास के

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे परमेश्वर ! आप इस पृथिवी पर इसीलिये रामकृष्णादि अवतार धारण करते हैं जिससे

सामने उसे सब मिठास तुच्छ लगने लगेंगी। इसी प्रकार जिसने भगवत् कथामृत का कभी स्वाद नहीं चखा उसे स्त्री पुरुषों की विषय सम्बन्धी वार्तायें ही बड़ी मीठी चित्ताकर्षक प्रतीत होती हैं यदि कभी उन्हें गोपीजनवल्लभ राधारमण की रसमयी कथायें सुनने को मिल जायँ, तो ये विषयवार्तायें विषवत् प्रतीत होने लगेंगी। भगवत् कथाओं में स्वाद तभी अधिक आवेगा, जब वे श्रद्धा भक्ति तथा अनुराग के साथ सुनी, पढ़ी अथवा गायी जायँ। जब तक श्रद्धा भक्ति अनुराग न भी हो तब तक बिना इच्छा के भी सुनते रहना चाहिये, उनमें स्वयं इतनी मधुरता है कि सुनते-सुनते स्वतः ही श्रद्धा भक्ति अनुराग हो ही जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! संसारी लोग तनिक से ऐश्वर्य को पाकर अपनेको ऐश्वर्यवान् समझते हैं। विश्व ब्रह्माण्डों में जितना भी ऐश्वर्य है; वह आपके ऐश्वर्य का एक क्षुद्रांशमात्र है। चाहे कोई ब्रह्माण्ड का भी ऐश्वर्यशाली हो वह भी आपके ऐश्वर्य का मनसे भी चिन्तन नहीं कर सकता। इसी प्रकार आपका वीर्य भी अमित है, आपका यश भी अनिर्वचनीय है। श्री के तो आप साक्षात् स्वामी ही हैं. ज्ञान तो आपका रूप ही है। विज्ञान स्वरूप आप कहे ही जाते हैं। जगत् के रचने वाले ब्रह्माजी भी आपका यथार्थ स्वरूप नहीं जानते, फिर इस क्षुद्र जीव की तो शक्ति ही

पुरुषों को अत्यन्त दुर्बोध आत्मतत्व का ज्ञान हो जाय। ऐसे आप परमात्मा के चरित्र रूप महान् अमृत के समुद्र में स्नान करके कोई भक्तगण श्रम रहित हो जाते हैं, फिर वे मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखते। वे आपके चरण कमलों को हंस के समान सेवन करने वाले भक्तों का संग करके घर द्वार को भी छोड़ देते हैं।

क्या है, जो आपके ज्ञान, विज्ञान, ऐश्वर्य तथा वीर्यादि के सम्बन्ध में जान सके। इसीलिये वेदों में आप को दुर्बोध कहा है, जीव अपनी बुद्धि से अपने पुरुषार्थ द्वारा आपके सम्बन्ध में जानने में सर्वथा असमर्थ हैं। हाँ, आपही जिसे अपना रूप जनाना चाहें वह भले ही आपका स्वरूप पहिचान ले।

आप करुणा के सागर हैं, कृपा के सिन्धु हैं, दया के निधान हैं, अनुग्रह के वारिधि हैं। आपने देखा कि मेरे निर्गुण निराकार रूप को तो प्राणी समझ नहीं सकते। इन्हें मेरा ज्ञान कैसे हो, इस प्रकार दया के वशीभूत होकर तथा अपने अत्यन्त ही दुर्बोध आत्मतत्व का ज्ञान कराने के निमित्त आप रामकृष्णादि अवतार धारण करते हैं। योगमाया का आश्रय लेकर आप साधारण जीवों में मिल जाते हैं, उन्हीं के समान शरीर बना लेते हैं। उस दिव्य शरीर से आप बहुत अतिमानुस कार्य करते हैं। कुछ तो आप लोकवत् लीला करते हैं, कुछ ऐसे भी कार्य करते हैं जिन्हें साधारण जीव कभी कर ही नहीं सकते। उन लीलाओं के जो पात्र बने बनते हैं, जो उन्हें अपने चर्मचक्षुओं से अवलोकन करते हैं, वे धन्य हो जाते हैं, कृतार्थ बन जाते हैं। वे ऐसे सुखद चरित्र होते हैं, कि उनके श्रवणमात्र से ही कान पावन बन जाते हैं। कोई आपके प्रसाद प्राप्त पुरुष उन चरित्रों को लिपिबद्ध कर देते है, जिससे दूसरे लोग भी उन्हें सुनकर सुख पा सकें वे चरित्र क्या होते हैं अमृत का सागर ही होता है। उन चरित्रों की कोई थाह नहीं पा सकता वे अगाध अपार होते हैं। उस चरितामृत सिन्धु में जो श्रद्धा भक्ति सहित स्नान करते हैं, अवगाहन करते हैं उनके समस्त संसारी श्रम नष्ट हो जाते हैं, वे आधि-व्याधि से रहित होकर स्वस्थ हो जाते हैं, निश्चिन्त बन जाते हैं। उस कथामृत में स्नान करके उसका प्रेमपूर्वक पान करके वे ऐसे तृप्त हो

जाते हैं, कि उन्हें संसारी वस्तुओं की तो बात ही क्या कोई मोक्ष भी देता है, तो वे उसकी भी इच्छा नहीं करते । कोई देता भी है तो उसे ग्रहण नहीं करते। जब वे मुक्ति तक की इच्छा नहीं रखते, तब इन्द्रपद, लोकपालों के पद तथा ब्रह्मपद की तो बात ही क्या ? भगवन् ! यह बात नहीं कि उन्हें कोई पद जब प्राप्त ही नहीं तब त्याग कैसे करेंगे। उनको जो लौकिक देहके, गेहके, गृहिणी आदि के सुख वर्तमान में प्राप्त भी हैं उनका भी वे त्याग कर देते हैं। वे आपके भक्तों का संग करते हैं। आपके भक्त हंस के समान नीर क्षीर विवेकी होते हैं। वे लौकिक कथाओं को पृथक् करके केवल विशुद्ध आपकी ही कथा सुनते हैं, ऐसे भक्त जब परस्पर में बैठ-कर हरिचर्चा करते हैं, तो आनंद की ऐसी धारा बहती है, कि उसमें सभी संसारी सुख तुच्छ प्रतीत होते हैं। उस भक्त मंडली के सत्संग से कथा श्रवण करने वाले अन्य साधक भी घर बार छोड़कर आपके ही ध्यान में सदा निमग्न हो जाते हैं।

प्रभो ! जीव चौरासी लाख योनियों में भटकते भटकते मनुष्य शरीर में आता है। यह मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है, इसमें यदि विवेक से काम लिया जाय तो सभी मनोरथ सफल हो सकते हैं। प्राणी निर्भय बन सकता है । जैसे पक्षी वृक्ष की नीड में अपने घोंसले में आकर सुखी हो जाता है, उसे वर्षा घाम किसी का भय नहीं रहता। इस मनुष्य शरीर से ही प्राणी आपकी सेवा कर सकता है, यज्ञयाग की सामग्री जुटा सकता है। पत्र, पुष्प, फल, नैवेद्य समिधा ला सकता है आपकी नवधा भक्ति कर सकता है। आपकी वेदरूपी आज्ञा का पालन कर सकता है, आपका अनुसरण कर सकता है। मानव शरीर ही आत्मा को प्राप्त कराने वाला आत्मस्वरूप है, यही सच्चा सुहृद् है, यही अनु-कूल होने पर प्रियजन के सदृश आचरण करने वाला होता है,

किन्तु प्रभो ! मनुष्यों का दुर्भाग्य है, कि आत्मरूप से आप सदा उसके साथ रहते हैं, आप उसके सर्वदा सम्मुख वसते हैं, फिर भी परम हितकारी परमप्रिय आत्मस्वरूप में यह प्राणी इतना दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी प्रेम नहीं करता। अपितु और बन्धन का उपाय करता है, अपने पैरों में अपने आप कुल्हाड़ी मारता है। आपसे प्रेम न करके देह से प्रेम करता है मिट्टी के घर से प्रेम करता है, घरवाली से मोह करता है, बाल बच्चे सम्बन्धियों से मोह करता है। अहंता और ममता में ही फँसा रहता है। इस शरीर के भीतर आत्मरूप से आप निवास करते हैं, इस बात को तो यह भूल जाता है, किन्तु इस पंचभूत के शरीर को ही अहं समझता, इसके लालन पालन में ही बहुत समय लगाता है। कंकड़ पत्थर ईंट चूने के बने घर को ही अपना समझता है। स्त्री, पुत्र सगे सम्बन्धी जिनको अपना मानकर उनकी इच्छाओं की पूर्ति के लिये बड़े से बड़ा पापकर्म करता है वे सब अपने पतन के कारण हैं। उनकी इच्छा पूर्ति सम्बन्धी जो वासनायें हैं, वे वासनायें मोक्ष नहीं होने देतीं, चौरासी के चक्कर से निकलने नहीं देतीं, अपितु वे कूकर शूकर आदि निन्दित योनियों में ले जाने का कारण होती है। इनसे जन्म मरण का चक्कर न छूटकर और दृढ़तर होता है। इनका संग निर्भयता प्राप्त न कराके भयंकर भय को उत्पन्न करनेवाला होता है इनसे संसार चक्र में भ्रमते रहते हैं, पुनः जन्मते हैं, पुनः मरते हैं। फिर भी यह जीव आपकी ओर न जाकर मोह ममता की ओर जाता है। असत

पदार्थों में सत् बुद्धि करता है। आत्मस्वरूप आप में रति न करके अनात्म पदार्थों की प्राप्ति के लिये ही इधर से उधर भटकता रहता है। सत् का सहारा न लेकर असत् का ही पल्ला पकड़ता है यह कैसी मनुष्यों की कुमति है। आप सच्चिदानन्द को छोड़कर निरानंद विषयों के वन में भ्रमता रहता है। अपने हाथों अपना घात करके दुखी बनता है। प्रभो! आप ऐसी अनुग्रह करें कि ये मानव आपके सत् स्वरूप को समझ कर आप में ही सर्वथा अनुराग करें। इन तुच्छ विषयभोगों के जाल में फँसकर मानव शरीर को निरर्थक न बनावें। वे नृदेह की सार्थकता समझें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रुतियों का यूथ भगवान् की स्तुति करके चुप हो गया। तब दूसरी श्रुतियों का यूथ सम्मुख आकर भगवान् की स्तुति करने लगा। इसका वर्णन मैं आगे के प्रसंग में करूँगा।

छप्पय

नरतन दुरलभ सुलभ सकल सेवा को साधन।
आतमा लहि प्रिय सुहृद् करै नहिँ मुक्ति आचरन॥
सम्मुख सबके रहौ सकल जीवनि हितकारी।
प्रेम न तुमतैं करै मोह ने बुद्धि बिगारी॥
देह गेह सुत नारिके, लालन पालन में रहत।
सूकर कूकर योनि लहि, असत बासना जग भ्रमत॥

पद

लेउ अवतार जगत हित प्रभुवर।
करहु चरित सुखदायी सुन्दर, उपकारी अति मनहर ॥१॥
जिनकूँ पढ़ैं सुनैं जे गावैं, कटैं वन्ध जग दृढ़तर।
होहिँ सुखी न्हावैं जे प्रानी, चरित महामृत सागर ॥२॥
संत संग में सुनहिँ प्रेमतैं, कथा तुम्हारी सादर।
तजि घरवार बनैं वैरागी, करैं न मुकिहु आदर ॥३॥
मानुस तन ही मित्र आतमा, अति प्रिय करै निरन्तर।
देह गेह ममता में फँसिकैं, ताको करै निरादर ॥४॥
मैं मेरी में मोह फँसावै, मरि बनि शूकर कूकर।
जनम मरन के चक्कर में फँसि, भ्रमत जगत में पामर ॥५॥

वेद स्तुति (६)

(१२५)

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजोहृदि यत्,
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुःस्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविपक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

जो गति प्रानायाम योग करि योगी पावैं ।
ता गति कूँ करि शत्रुभाव सुररिपु पा जावैं ॥
ब्रजबनितनि आसक्ति मृदुल बाहुनि में लागी ।
करि हरि हिय तव परस प्रेम उत्कण्ठा जागी ॥
जो पद पायो कामतैं, सो हम श्रुति निष्काम भजि ।
समदरसी प्रभु सर्वमय, भजैं अन्य किहि तुमहिँ तजि ॥

मिश्री को जान में खाओ, अनजान में खाओ, उजाले में खाओ, अँधेरे में खाओ, चोरी से खाओ, न्यायपूर्वक खाओ कैसे

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो ! जिन्होंने प्राण, मन और इन्द्रियों को वश में कर लिया है तथा दृढयोग का अभ्यास करनेवाले हैं, ऐसे मुनिजनों द्वारा जिस पद को हृदय में उपासना

भी क्यों न खाओ स्वाद में वह मीठी ही लगेगी, किन्तु अँधेरे में खाना, चोरी करके खाना, अन्याय से खाना यह विधि नहीं है। स्वभाव के वशीभूत होकर कुछ लोग चोरी करके अन्याय से छिप कर सबकी आँख बचाकर खाते हैं। इससे मिश्री के स्वाद में तो अन्तर नहीं आता मिठास तो उसमें वैसी ही है, किन्तु उसमें मन प्रसाद नहीं। विधि तो यही है कि स्वस्थ चित्त होकर १०। २० सगे सम्बन्धी प्रेमियों के साथ बैठकर हँसी प्रसन्नता के प्रवाह में सबको बाँटकर न्यायार्जित द्रव्य से प्राप्त मधुरातिमधुर वस्तु को प्रेमपूर्वक पावे। इसी प्रकार भगवान् को काम से, क्रोध से, शत्रुता से, द्वेषबुद्धि से, भय से अथवा प्रेम से कैसे भी भजो, कैसे भी उनका स्मरण करो तो मुक्ति तो सबको समान रूप से मिलेगी, परिणाम में कोई अन्तर नहीं पड़ने का, किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह अथवा द्वेष से प्राप्त करना यह विधि नहीं है। प्राणी स्वभाव के वशीभूत होकर उन सर्वान्तर्यामी प्रेमास्पद प्रभु से द्वेषबुद्धि रख कर क्रोध करता है, उनसे युद्ध करता है, विधि तो यही है प्रभु को पेट भरके प्यार करे। उनको सर्वस्व समर्पणपूर्वक सेवा पूजा करे अनुरागभरित हृदय से उनका आदर करे। प्रेमपूर्वक उनकी कथा सुने, उनके नाम गुणों का कीर्तन करे, उनकी मनोहर मूर्ति का स्मरण करे। उनका पाद सेवन करे। उनका बारम्बार वंदन करे,

---

की जाती है, उसी पद को आपसे शत्रुता रखनेवाले असुर भी केवल स्मरण मात्र से प्राप्त कर लेते हैं। जिन गोपियों की बुद्धि आपमें अत्यन्त आसक्त हो गयी थी और जिन्होंने आपकी भुजङ्ग के शरीर के सदृश सुविकर गोल और बड़ी २ भुजाओं का आलिङ्गन पाया था वे गोपियाँ और आप के पादपद्मों का चिन्तन करने वाली हम श्रुतियाँ भी आपकी दृष्टि में समान ही हैं।

उनमें सख्य, वात्सल्य, दास्य अथवा मधुर भाव स्थापित करे, उन्हें आत्मनिवेदन करे, गति तो सबकी एक ही है, किन्तु ताप में अंतर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! आप समदर्शी हैं। कोई भी किसी भाव से भी, कैसे भी किसी साधन द्वारा भी आप तक पहुँच जाय आप सबको गति देते हैं। सबका समादर करते हैं। देखिये, योगीगण कितने क्लेश उठाते हैं। पहिले यम नियमों का विधिवत् पालन करते हुए विविध भाँति के आसन करते हैं, प्राणायाम के द्वारा काया को विशुद्ध बनाते हैं, समस्त नाड़ियों का शोधन करते हैं, प्राणों के संयम के साथ मनका संयम करते हैं समस्त इन्द्रियोंका विधिविहित संयम करते हैं,फिर ध्यान धारणाके द्वारा समाधि लगाते हैं, योगाभ्यास के द्वारा वे परमपद को प्राप्त होते हैं। वे किसी को क्लेश नहीं पहुँचाते, किसी से शत्रुता नहीं करते, सत्य बोलते हैं, सभी कठिन से कठिन नियमों का पालन करते हैं। इसके विपरीतस्वभाववाले असुर होते हैं। वे प्राणों का ही पोषण करते हैं, सबको क्लेश पहुँचाते हैं, घोर रजोगुणी तमोगुणी स्वभाव के होते हैं। औरों से द्वेष करना तो पृथक् रहा वे आपसे भी शत्रुता रखते हैं। आपको अपना शत्रु समझकर, शत्रु भाव से ही सर्वदा आपका चिन्तन करते हैं। कैसे भी सही वे चिन्तन तो आपका ही करते हैं। आग जान में छूओ या अनजान में वह जला तो देगी ही। ऐसे ही चाहें योगयुक्त होकर आपका ध्यान करें या शत्रु सकमकर स्मरण करें दोनों की गति एक ही होगी। आपके द्वारा मरकर वे भी मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं।

स्वामिन्! आपके यहाँ स्त्री पुरुष का भी भेदभाव नहीं। जो

गति पुरुषों को प्राप्त हो सकती है वही गति स्त्रियों को भी मिल सकती है। योगियों के समान ही गति गोपियों की भी हुई। पढ़े और अनपढ़ का भी आपके यहाँ भेदभाव नहीं। ब्रज की ब्रजाङ्गनायें तो अनपढ़ थीं, चिट्ठी भी नहीं पढ़ सकती थीं। उन अनपढ़ियों को जो गति प्राप्त हुई वही हम साक्षात् वेदों की श्रुतियों को भी मिली। आपके यहाँ भावों में भी भेदभाव नहीं। ब्रजाङ्गनायें तो महती अनुरागवती थीं। उनका आपके पादपद्मों में कितना अनुराग था, वह अकथनीय है। भुजंग के समान जो आपकी सुन्दर चिकनी गोल गोल लम्बी भुजायें हैं जब, वे भुजायें उनके कंठों में पड़तीं तो उनके स्पर्शमात्र से ही उनका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठता। वे उन विशाल भुजाओं से अत्यंत अनुरक्त हो जातीं एक तो ऐसी अनुरागवती स्त्रियाँ और दूसरे हम जो आपको दूर से ही नेति नेति कहकर बताती हैं, स्पर्श की तो कौन कहे आँखें भरके साक्षात् देख नहीं सकतीं। आपकी दृष्टि में दोनों समान हैं। गोपियाँ केवल आपको ही देखती हैं, उनकी दृष्टि परिच्छिन्न है और हम श्रुतियाँ सबको देखती हैं हमारी दृष्टि अपरिच्छिन्न है फिर भी आपकी समान ही दृष्टि है। ऐसे आप सबदर्शी प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है।

फिर अन्य श्रुतियाँ कहने लगीं—"प्रभो! बहुत से जीव अभिमान में भरकर कहते हैं—"हमने परम तत्व को जान लिया, भगवन् साक्षात्कार कर लिया, सर्वान्तर्यामी के रहस्य को जान लिया।" ये लोग भोले हैं। ये यह नहीं समझते कि आपके बिना

जनाये जीव आपके सम्बन्ध में अपने पुरुषार्थ से कुछ भी जानने में समर्थ नहीं। स्वामिन्! कोई बचा है, माता-पिता के सम्मुख उत्पन्न हुआ है। उन्होंने उसे उत्पन्न होते देखा है, उनके सामने ही वह बड़ा हुआ है, बाल्य, पौगंड, किशोर तथा युवावस्था प्राप्त की है, उनके सामने पढ़ा लिखा है, वे तो उसके सम्बन्ध में जान भी सकते हैं, किन्तु जो उससे भी पहिले उत्पन्न हुए हैं, बड़े भाई, बहिन, माता, पिता, नाना, नानी उनके संबंध में बालक क्या प्रत्यक्ष जान सकता है? जो भी कुछ जानेगा इतिहास सुन पढ़कर ही जानेगा। इसी प्रकार आप पूर्वजों के भी पूर्वज हैं। चराचर सृष्टि को रचने वाले भगवान् ब्रह्माजी ही सबके पूर्वज हैं। वे आपके पुत्र ही ठहरे। उनसे सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन तथा नारदादि निवृत्त परायणमुनि उत्पन्न हुए तथा मरीचि, अत्रि, वसिष्ठादि प्रवृत्तिपरायण ऋषि पैदा हुए। जब आप सबसे पहिले हैं, सबको उत्पन्न करने वाले हैं, आपको उत्पन्न करने वाला कोई भी नहीं तब आपके संबंध में कोई यथार्थ कैसे जान सकता है। जब सब प्राणियों को उत्पन्न करने वाले ब्रह्माजी मरीचादि प्रजापति भी आपका यथार्थ तत्त्व नहीं जानते तब मनुष्यों की तो बात ही क्या जो इन सबसे पीछे उत्पन्न हुए हैं।

भगवन्! एकमात्र आपही सृष्टि के आदि में रहते हैं और सृष्टि के अन्त में भी एकमात्र आपही शेष रह जाते हैं। जिस समय आपकी इच्छा इस प्रपंच को समेटने की होती है, जब आप प्रलय करना चाहते हैं तब संपूर्ण चराचर को अपने में लीन

करके योगनिद्रा में शयन करते हैं, उस काल में न तो आकाशादि स्थूल जगत् रहता है, न महत्तत्त्वादि सूक्ष्म तत्व रहते हैं। उस समय सत् असत् स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर नहीं रह जाते। यही नहीं जो काल सूक्ष्म स्थूलका बोध कराने वाला है,वह काल भी उस समय नहीं रहता। सबका बोध कराने वाला शास्त्र भी उस समय दिखायी नहीं देते अर्थात् आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीखता। आप तक न मन पहुँच सकता है न वहाँ वाणी की ही गति है, आपके साक्षात् स्वरूप का पूर्णज्ञान कौन कर सकता है। ऐसे आप अव्यक्त अनादि, अज अवाङ्मनसगोचर अच्युत परब्रह्म के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ये श्रुतियाँ जब स्तुति करके मौन हो गयीं तब अन्य श्रुतियों का यूथ आकर भगवान् की स्तुति करने लगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

प्रभु तुमतैं अज प्रकट भये तिनितैं सबई मुनि।
पीछे तुमतैं सकल भये जानें तुमकूँ मुनि॥
पीछे वारे प्रथम जनम करमनि जानें नहिँ।
प्रलय माहिँ सत असत लीन करि केवल सोवहिँ॥
थूल सूक्ष्म तनु प्रलय में, काल शास्त्र कछु नहिँ रहें।
हो अचिन्त्य दुरबोध प्रभु, वेद शास्त्र सबई कहें॥

पद

वेद समदरसी तुमहिँ बतावें।
संयम मन इन्द्रिय को करिकें, योगी ध्यान लगावें ॥१॥
जो गति लहें योगतें सोई, असुर द्वेष करि पावें।
जो गति ब्रजनवयुवतिनि पाई, जे हिय तुम्हें सटावें ॥२॥
सोई गति निरगुन श्रुति हमकूँ, नेति नेति नित गावें।
नर नारी द्वेषी अनुरागी, भेद न हिय में लावें ॥३॥
तुम दुरबोध अचिन्त्य अगोचर ऋषि मुनि वेद बतावें।
तुमतें पीछे प्रकटे अज मुनि, कैसे तब पद पावें ॥४॥
सब समेंटि सोवें सुख शैया, तब कछु नहीं लखावें।
तुमरी कृपा पाइँ प्रभु तुमकूँ, शरन गये अपनावें ॥५॥

वेद स्तुति (७)

(१२६)

जनिमसतः सतोमृति मुतात्मनि ये भिदाम्,
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता,
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥१

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

उतपति सततैं कहैं असततैं अपर बतावैं।
आत्मा में कछु भेद काम्य करमनि सत गावैं॥
भ्रमवश सब कछु कहैं सबहि संभव माया में।
पुरुष त्रिगुनमय कहैं भेदभ्रम करि काया में॥
पूर्ण ज्ञानमय नित्य प्रभु, सतचित आनँद रूप हैं।
भेदभाव सम्भव नहीं, साक्षी सत्य स्वरूप हैं॥

मतभेद तभी तक होता है, जब तक लोग शब्दों पर बल देते हैं। मैंने जो कहा वही सत्य है, दूसरा कहता है नहीं तुम्हारा

---

१ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! कोई अविद्यमान की उत्पत्ति और विद्यमान का नाश मानते हैं, कोई आत्मा में ही स्थूल सूक्ष्मादि भेद मानते हैं, कोई कोई लेन देन की वृत्ति वाले काम्यकर्मों

कथन असत्य है मैं जो कह रहा हूँ वही सत्य है। यह सत्यासत्य का विवाद तत्व वस्तु को बिना देखे, बिना साक्षात्कार किये ही होता है। एक व्यक्ति कहता है नीर से प्यास बुझती है, दूसरा कहता है नीर से नहीं पय से बुझती है, तीसरा कहता है पय से नहीं सलिल से बुझती है। कोई कहता है जल से, जीवन से, भुवन से, वन से, तथा पानी आदि आदि जब पानी का साक्षात् कार कर लेते हैं, तो सब शान्त हो जाते हैं। प्यास बुझाने वाली वस्तु के ही नीर, पय, सलिल, जल, जीवन, भुवन, वन, पानी तथा नार आदि नाम हैं। है वस्तु एक उसे ब्राह्मण लोग-ज्ञानी पुरुष-बहुत प्रकार से कहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! कुछ लोग कहते हैं असत् की उत्पत्ति हो जाती है सत् का नाश हो जाता है। जैसे मिट्टी सत् है, उससे असत् घट बन जाता है, घट के नाश होने पर फिर मिट्टी ही रह जाती है। सोना सत् है। अभी तक कोई आभूषण नहीं उसी सत् सोने से जो अब तक नहीं था वह आभूषण बन गया, सत् सोने का अस्तित्व नहीं रहा। घड़ा नहीं था मिट्टी से बन गया, जब घड़ा बन गया मिट्टी नहीं रही। वे असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश मानते हैं। कुछ लोग इस देह को आत्मा मानते हैं, उनका कहना है, यह शरीर ही सब कुछ है, जब तक जीओ सुखपूर्वक जीओ। मरने पर शरीर पंचभूतों में मिल

के फल को ही नित्य मानते हैं। वे भ्रम से ऐसा आरोपित करते हैं और ऐसा ही उपदेश भी करते हैं कोई पुरुष को त्रिगुणमय मानते हैं ऐसा भेद भी अज्ञानजन्य है। आप ज्ञान स्वरूप में अज्ञान विद्यमान ही नहीं रह सकता क्योंकि आप भेदभाव से रहित हैं।

जायगा। परलोक पुनर्जन्म कुछ भी नहीं है, अतः शरीर को ही पुष्ट करते रहना और विषयों का ही भली भाँति उपभोग करना यही पुरुषार्थ है।

भगवन्! कुछ लोग कहते हैं—"यज्ञ ही एक ऐसा कर्म है, जिससे सुख शान्ति मिल सकती है। तुम यज्ञ करोगे तो उस यज्ञ कर्म से देवता संतुष्ट होंगे, प्रसन्न होकर वे वर्षा करेंगे, जिससे अन्नादि पदार्थ उत्पन्न होंगे। तुम यदि यज्ञादि कर्मों से देवताओं का सत्कार करोगे तो वे भी तुम्हारा सत्कार करेंगे। परस्पर के सत्कार से सुख प्राप्त होगा। यह संसार ऐसा है कि इस हाथ लेना उस हाथ देना। वे लोग स्वर्गादि सुखों को ही नित्य मानते हैं। मानते ही नहीं,ऐसे लुभावने पुष्पित वचनों से भाँति भाँति की तर्क देकर सबको उपदेश भी करते हैं।

कुछ लोग सत्व, रज और तम इन तीन गुण वाले पुरुष को ही चेतन स्वरूप मानते हैं, वे कहते हैं इस त्रिगुणात्मक पुरुष के अतिरिक्त और कोई ईश्वर ही नहीं। प्राणी आपके विषय में यथा तथ्य जानते नहीं इसीलिये यह भेदज्ञान अज्ञानजनित है भ्रम का मूल कारण यथावत् ज्ञान न होना ही है। भगवन्! आप तो ज्ञानानन्द स्वरूप हैं, अज्ञान से सर्वथा रहित हैं, अतः आपमें अज्ञान तो हो ही नहीं सकता, फिर अज्ञानजनित जो यह भेदभाव है, उसकी कल्पना तो किसी प्रकार संभव ही नहीं। आप तो भेदभाव से रहित ज्ञानघन सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा हैं।

इसके अनन्तर अन्य श्रुतियाँ स्तुति करती हुई कहने लगीं—"प्रभो! यह संपूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक है। तीनों गुणों में ही जीव आबद्ध है। कीट पतंग पशु पक्षी मनुष्य जितने भी जीवधारी हैं, उनका मन तीन गुणों से युक्त है। यह मनोविलास रूप त्रिगुणात्मक संसार सत् सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में सत् नहीं

असत् ही है, किन्तु इसके अधिष्ठान आप हैं। यह जो भी कुछ दृश्य प्रपंच है, जगत् का पसारा है सब आपमें अधिष्ठित है, इसलिये यह भी सत्य ही है, क्योंकि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उसी के स्वभाव की होती है। आपने जगत् को बनाया है और बनाकर उसी में अनुप्रविष्ट हो गये हैं, इसी कारण से जो ज्ञानी हैं तत्ववेत्ता हैं वे इस निखिल चराचर विश्व को आत्मरूप में ही देखते हैं, वे कहते सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, नानात्व कुछ भी नहीं जो जिससे उत्पन्न है वह उसी के अनुरूप है मिट्टी से घड़ा बनेगा। यद्यपि मिट्टी का विकार है किन्तु है वह मिट्टी ही। सुवर्ण से ही कुण्डल कङ्कण आदि आभूषण बनते हैं, किन्तु सुवर्णकार वणिक् उसे सुवर्ण से भिन्न नहीं मानते। कोई सुवर्ण क्रय करने जाय और उसे कोई हार, कंकण नथकुण्डल आदि आभूषण दे, तो क्रय करने वाला यह नहीं कहेगा, कि मुझे आभूषण नहीं लेने हैं, मुझे तो सुवर्ण क्रय करना है। वह जानता है, सुवर्ण का संस्कार करके जो ये विविध नामवाले आभूषण बना दिये हैं, ये सब नाम मिथ्या हैं, इनकी जो भिन्न भिन्न आकृतियाँ हैं, वे भी स्थायी रहनेवाली नहीं हैं असत् हैं, इनके बनने के पूर्व भी यह शुद्ध सुवर्ण था, बन जाने पर भी सुवर्ण ही रहा और जब इसके विविध नाम विविध रूप मिट जायँगे, तब भी सुवर्ण ही शेष रह जायगा। यही सोचकर भिन्न भिन्न नाम वाले, भिन्न भिन्न आकृतियों वाले सुवर्ण को भी वे सुवर्ण करके ही ग्रहण करते हैं। यही बात आप और संसार के संबन्ध में समझनी

चाहिये। यह जो भी कुछ देखा सुना और अनुभव किया जाने वाला है यह सब आत्मा से ही निर्मित है और जैसे हिम में पानी ही पानी रहता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी संपूर्ण जगत् को आत्म-मय आत्मरूप ही मानते हैं। वे और कुछ देखते ही नहीं। आत्म-रूप होने से जगत् हेय नहीं ग्राह्य है, घृणास्पद न होकर प्रेमास्पद है। जैसे गुड़ के बने चीनी, शकर, मिश्री सभी विकारों में बुद्धिमान एक ही इक्षुरस को निहारते हैं और रसमय ही समझते हैं, इसी प्रकार रसरूप ब्रह्म को ही जगत् में आत्मज्ञानी अवलोकन करते हैं। रसरूप आप ही हैं प्रभो! जिन्हें प्राप्त करके पुरुष आनन्दी बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके जब श्रुतियों का एक यूथ चुप हो गया तब एक अन्य श्रुति मण्डल आकर भगवान् का स्तुति करने लगा। इस मण्डल की श्रुतियाँ प्रेम के तत्व को जानने वाली थी अतः वे प्रेम की महिमा का बखान करने लगीं। संसार में एकमात्र प्रेम ही सार वस्तु है अतः महर्षियो! आप इस प्रेम के पावन प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करने की महती कृपा करेंगे।

छप्पय

है यह मनोविलास रूप जो त्रिगुन लखावै।
भोला न्यारो लगै सत्य नहिं असत कहावै॥
किन्तु सत्य-सो लगै व्याप्त प्रभु अन्तरयामी।
तातैं ज्ञानी जगत ब्रह्ममय समुझैं स्वामी॥
नाम रूपतैं कनक ही, कुण्डल कंकन बनि गयो।
ज्ञानी सोनों ही लखैं, ब्रह्म जगत त्यों [illegible] भयो॥

पद

विविध विधि यादी तुमहिँ बतावें।
कोई कहें असत की उतपति, सत को नाश जतावें ॥१॥
कोई काम्य करम ही मानें, करम सतत करवावें।
जज्ञ जाग करि जग सुख भोगें, अन्त स्वरग में जावें ॥२॥
कोई देह आतमा समुझें, नहिँ परलोक बतावें।
कहें सुखी जे तनकूँ पोसें, खावें मौज उड़ावें ॥३॥
देखें भेदभाव बहु भारें, तरकनि जुक्ति लड़ावें।
ज्ञानरूप प्रभु नित्य सरवगत, नहीं कुतरकी पावें ॥४॥
लगै सत्य सो असत जाँय जग मत सब समुझि सिहावें।
ज्ञानी आतमरूप जग निरखें, भेद न तनिक बतावें ॥५॥
सोनो कहो कनक या कुण्डल, एकहि सत्य जतावें।
जीव जगत अरु ब्रह्म भिन्न नहिँ, प्रभुमय सकल लखावें ॥६॥

—:०:—

वेद स्तुति (८)

(१२७)

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया,
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिराविबुधानपि तां–
स्त्वयि कृतसौहृदाःखलु पुनन्ति न येविमुखाः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २७ श्लो०

छप्पय

आश्रय सबको जानि तुम्हें जे जीव भजत हैं।
धरें मृत्यु सिर पैर निरादर तासु करत हैं॥
जे तुमकूँ प्रिय सुहृद बन्धु सरबसु करि जानें।
त्रिभुवन पावन करें प्रानप्रिय प्रियतम मानें॥
जे तुमतें प्रभु विमुख हैं, पतित कहा पावन करें।
करमपरक श्रुतियनि बँधे, पशुसम जनमें पुनि मरें॥

साध्य को प्राप्त करने के निमित्त विविध साधन जुटाये जाते हैं। साध्य को भूलकर केवल साधनों को ही सब कुछ समझकर

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन्! आप अखिल जीवों के विश्राम स्थान हैं, इस बुद्धि से जो आपका सेवन करते हैं, वे मृत्यु को कुछ न समझकर उसके सिर पर पाद प्रहार करके चले जाते

उसी में फँसे रहते हैं, वे साध्य को प्राप्त कर सकते। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिये घोड़े को खिलाकर हृष्ट पुष्ट किया जाता है, कि उस पर चढ़कर गन्तव्य स्थान पर पहुँच जायँ। किन्तु जाने वाली बात भूलकर घोड़े की सेवा सुश्रूषा में ही जो लगा रहता है, उसी को पुष्ट करने में जो अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है, इससे घोड़ा चाहें जितना भी मोटा बन जाय, लक्ष्य पर वह नहीं पहुँच सकता। इसके विपरीत जो घोड़े को खिलाता पिलाता तो उसी की भाँति है उसे हृष्ट-पुष्ट भी करता है, किन्तु उस पर चढ़कर यात्रा भी करता है, तो वह अपने गन्तव्य स्थान तक अवश्य पहुँच जाता है।

समस्त यज्ञ यागादि साधन इसी निमित्त हैं कि हमें प्रभुप्रेम प्राप्त हो साधनों का फल प्रभुप्रेम है। जो प्रेम को भूलकर केवल जड़ साधनों को ही सब कुछ समझने लगते हैं और उन्हीं में फँसे रहते हैं वे कर्मसंगी पुरुष प्रेम से वञ्चित रह जाते हैं, वे कर्मासक्त बनकर भवाटवी में भ्रमते रहते। प्रभुप्रेम प्रभु की कृपा से ही प्राप्त होता है, अतः उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते रहना यही जीव का पुरुषार्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जगत् में जितने चर अचर, स्थावर जंगम, ऊँचनीच, छोटे बड़े तथा सभी प्रकार के जीव हैं आप उन सबके विश्राम स्थान हैं। सबके एकमात्र आश्रय आपही

हैं। जिन्होंने आपमें सौहार्दभाव स्थापित कर लिया है, वे समस्त लोकों को पवित्र करते हैं, जो आपसे विमुख हैं वे ऐसा नहीं कर सकते। वे चाहे विबुध भी क्यों न हों, आप उन्हें कर्म परक श्रुतियों में पशु के समान फँसा देते हैं।

हैं। आपके आधार पर ही समस्त प्राणी अवस्थित हैं। आप सर्वात्मा हैं, सर्वव्यापक हैं, सबमें समान भाव से रम रहे हैं। जो लोग आपको सर्वत्र सबमें समझकर समभाव से आपका सेवन करते हैं, आपकी पूजा परिचर्या करते हैं, वे जन्ममरण के चक्कर से छूटकर विमुक्त बन जाते हैं। वे मर्त्यलोक में रहते हुए भी मृत्यु के पाश से बच जाते हैं। मृत्यु उनके निकट आते तो हैं, किन्तु सामान्य मनुष्य जैसे मृत्यु का नाम सुनकर ही भयभीत हो जाते हैं, ऐसे आपका सेवन करने वाले भक्त भयभीत नहीं होते वे मृत्यु को देखकर हँस जाते हैं, उसे कुछ नहीं समझते उसकी अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं और आपके वैकुण्ठ में आने के लिये उसे विमान में चढ़ने की सीढ़ी बना लेते हैं। उसके सिर पर पैर रखकर तुरन्त विमान पर चढ़ जाते हैं। वे अमर्त्य बन जाते हैं। समभाव से सर्वत्र आपको जानकर वे किसी से द्वेष नहीं करते, मोह नहीं करते, शोक नहीं तथा किसी की निन्दा नहीं करते, निन्दा तो तब करें जब कोई दूसरा हो तब! वे तो सबमें आपको देखते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष आपकी आत्मा ही हैं।

जो आपमें समभाव नहीं रखते, कर्मों में ही जिनकी आसक्ति है, उनको भी आप कर्मों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें बँधवा देते हैं। अर्थात् वे यज्ञयाग सकाम कर्मों में लगे रहते हैं स्वामी जिस पशु को बँधवाता है, उसको खाने को घास भूसा देता है, उससे कर्म कराता है तथा उसके कल्याण की कामना करता रहता है। इससे उसका मङ्गल ही होता है। यज्ञादि में याज्ञिक देवताओं के प्रिय बलि पशु को यूप में बँधवा देते हैं, इससे उनका यज्ञ भी पूर्ण होता है तथा उस पशु को भी स्वर्गादिलोकों की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार जो आपकी वेदरूपी पुष्पित वाणी में आसक्त हुए विद्वान हैं, उनके यज्ञ यागादि सकाम कर्मों से देवता

भी बलि प्राप्त करते हैं, इससे वृष्टि भी होती है, यज्ञ करने वालों को स्वर्ग की भी प्राप्ति होती है तथा आपका संसार चक्र भी चलता रहता है। इस प्रकार कर्म परक श्रुतियों में आसक्त हुए पुरुषों का भी आप कल्याण करते।

हे प्रभो! जो लोग आपसे प्रेम करते हैं, आपमें सौहार्द्र स्थापित करके आपमें दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य संबन्ध स्थापित करके आपको ही अपना सर्वस्व समझते हैं, वे स्वयं तो पवित्र होते हैं, साथ ही अपने संसर्ग से त्रिभुवन को पावन कर देते हैं। आपके अनन्य प्रेमी भक्त जिस देश में उत्पन्न होते हैं, वह देश पावन बन जाता है, जिस अवनि पर उत्पन्न होते हैं, वह अवनी परम पावन तीर्थ बन जाती है, वे जिस कुल में उत्पन्न होते हैं, वह कुल कृतार्थ हो जाता है, जिस जननी की कोख से ऐसे प्रेमी भक्त उत्पन्न होते हैं वह जननी कृतार्थ हो जाती है, स्वर्लोक जनलोक, तपलोक, सत्यलोक तथा वैकुण्ठलोक जिस लोक में भी वे जाते हैं उसे और भी पावन बना देते हैं। आपके प्रेमी भक्त जो मनसे सोचते हैं, उन विचारों से संसार में पवित्रता आती है, वे जो बात वाणी से बोलते हैं उसके श्रवण से श्रवण करने वाले पावन बनते हैं, वे शरीर से जो कार्य करते हैं, जो जो भी चेष्टा करते हैं उनसे त्रिभुवन पवित्र होता है। उनके सब कार्य परोपकारमय ही होते हैं, किसी से द्वेष न करना, सबसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करना यही तो सर्वोपरि परोपकार है। आपके प्रेमी भक्त ही सबसे बड़े परोपकारी हैं, क्योंकि वे स्वयं तो पावन होते ही हैं, अपने स्वाँसप्रश्वास से सबको पावन बनाते हैं, इसके विपरीत जो आपके भक्त नहीं हैं, आपके विमुख हैं, वे स्वयं अपने को ही पवित्र नहीं कर सकते, फिर अन्यों को पवित्र करने की बात तो पृथक् रही।

दूसरी श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! आप सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। समस्त प्राणी इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग तथा समस्त कार्यों को करते हैं, किन्तु आपको करणों की-इन्द्रियों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। आपके हाथ नहीं हैं, किन्तु आप अति शीघ्र सब कुछ ग्रहण कर लेते हैं। आपके पैर नहीं किन्तु सबसे अधिक वेग से दौड़ते हैं। आपके चक्षु नहीं, किन्तु सबको सबसे स्पष्ट देख लेते हैं। आपके कान नहीं किन्तु समस्त प्राणियों की बातें-चाहें वे कितनी भी शनैः शनैः कही गयी हों आप स्पष्ट रूप से सुन लेते हैं। आप समस्त जानने योग्य-बातों को जान लेते हैं, किन्तु आपको यथार्थ रूप में कोई नहीं जानता। इस प्रकार कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण रूप जो भीतर बाहर की इन्द्रियाँ हैं, उनसे आप रहित होने पर भी आपका ज्ञान स्वतः सिद्ध है, उसे प्रकाशित करने के लिये बाह्यकरण तथा अन्तःकरण की अपेक्षा नहीं। वाक् पाणि, पाद, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार जितने भी करण हैं उनकी शक्ति से आप सदा सर्वदा स्वतः ही सम्पन्न हैं। इसलिये आप सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते, सब कुछ उपभोग करते हुए भी कुछ नहीं करते अविद्या आपको स्पर्श नहीं कर सकती। आपको किसी ने सम्राट् बनाया नहीं है आपको किसी ने अभिषिक्त नहीं किया, पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया। आप स्वाभाविक ही सर्वेश्वर हैं, सर्वाधिप हैं, ईश्वर हैं।

ईश्वर तो ब्रह्मा, इन्द्र तथा लोकपाल भी हैं वे भी सृष्टि आदि

करने में समर्थ हैं, प्रजा के पति हैं। यह सब तो सत्य है, ईश्वर तो वे भी हैं, किन्तु उनमें और आपमें अन्तर है। आपको किसी ने किसी पद पर नियुक्त नहीं किया है। अतः आप निर्भय हैं, किसी के सम्मुख उत्तरदायी नहीं ब्रह्मादिक देवों को आपने उनके पदों पर नियुक्त किया है, उन्हें अधिकार सौंपा है, अधिकारी बनाया है। आपने उन्हें जिन कार्यों पर नियुक्त किया है, जिन जिन पदों पर प्रतिष्ठित किया है, वे उन उन कार्यों को अव्यग्र चित्त से बड़ी सावधानी के साथ सदा सम्पन्न करते रहे हैं, उन्हें सदा सर्वदा कालरूप आपका भय बना रहता है। वे आपके भय से ही सब कार्यों को करते हैं, वे आपकी भाँति स्वतन्त्र तथा निर्भय नहीं। आप तो किसी को कर देते नहीं। कर दें भी तो किसे दें आपकी कोई बराबर ही नहीं, फिर बड़ा तो कोई हो ही कैसे सकता है। आप बिना करणों के स्वयं ही सब कुछ उपभोग करते हैं। ये इन्द्रादि देवगण, ब्रह्मादि लोकपालगण हव्यकव्यादि को प्रजा के लोगों से ग्रहण करके उसका स्वयं भी भोग करते हैं और आपको भी अर्पण करते हैं। जैसे लोक में भी करद राजा-गण जो किसी मंडल या देश के अधिपति होते हैं,वे प्रजा से कर लेकर उसका स्वयं भी उपभोग करते हैं,और सम्राट् को भी उसमें से अर्पण करते हैं, किन्तु सम्राट् किसी को अर्पण नहीं करता। जैसे सेवा करने वाले अपनी सहचरी को भी साथ लेकर सेवा में में उपस्थित होते हैं, वैसे ही ये इन्द्रादि लोकपाल अविद्या को संग लिये ही सब कार्य करते हैं, आप अविद्या से सदा सर्वदा विमुक्त

हैं। इस प्रकार प्रभो ! आप को किसी भी ईश्वर से समता नहीं, आप ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, अधिपतियों के भी महाधिपति हैं। महाराजाधिराजों के भी अधिराज हैं। यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड आपके तनिक से संकेत से ही चल रहा है। जितने ये ब्रह्मा, प्रजापति, मनु, इन्द्र, सप्तर्षि तथा राजागण हैं सब आपकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं। सब आपकी इच्छा समझकर व्यवहार करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार स्तुति करके इन श्रुतियों का समूह विरत हुआ। तब दूसरी श्रुतियों का यूथ हाथ जोड़े हुए नम्रता के साथ भगवान् के सम्मुख आया, अब जैसे वे श्रुतियाँ जगने के लिये उद्यत श्रीहरि की स्तुति करेंगी, उस कथा प्रसंग को मैं आगे सुनाता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर इस पावन प्रसंग को श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

अन्तर बाहर करन-रहित प्रभु ज्ञान रूप हैं।
बिनु इन्द्रिनि के काज करें अज देव-भूप हैं॥
लोकपाल अज देव अविद्या आश्रय करिकें।
हव्य कव्य को भोग करें कछु तुमहिं अरपिकें॥
सार्वभौम सम्राट सम, अज सुर प्रभु कूँ बलि भरें।
सौंप्यो जिनि जो काज सो, करें ताहि तुमतैं डरें॥

पद

सबनि के आश्रय तुम भगवान।
जिनिकी मति ऐसी निरमल सो, पावें पद निरवान ॥१॥
घरिकें पैर मृत्यु सिर जावे, करि ताको अपमान।
जनम मरन चक्कर तें छुटिकें, करें सुयश नित गान ॥२॥
प्रभु पद प्रेम करें जे त्रिभुवन, पावन करें महान।
जे हैं विमुख करमरत ते जग, भ्रमें भलहिं विद्वान ॥३॥
इन्द्रिय रहित शक्तियुत स्वामी, सब सद्गुन इस्थान !
सुरगन फँसे अविद्या अंतर, करें हव्य नित दान ॥४॥
जो जो पद अरप्यो प्रभु जाकूँ, सो सो करें सुजान।
कालरूप प्रभुतें नित डरपें, सदा करें सब मान ॥५॥

वेद-स्तुति (६)

(१२८)

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थ निमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्चभवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८७ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

हो हरि मायातीत निहारें जब ई माया।
खेल होहि आरम्भ विविध विधि निकसें काया॥
अवलोकन तें होहिं जागरित करम सबनिके।
निकसें धरि तन-लिङ्ग चराचर सब जीवनिके॥
नभ सम शून्य समान प्रभु, मन वानी के विषय नहिं।
कोई पर अरु अपर नहिं, सब समदरसी शास्त्र कहिं॥

प्रभु का खेल विचित्र है वे स्वयं मायातीत होकर भी माया पति हैं। माया को देख देते हैं तभी यह संसार चक्र चलने लगता है, उनकी दृष्टि में सृष्टि है, उनकी इच्छा से ही सब

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे विभुवर प्रभो! जितनी स्थावर और जंगम जाति हैं, उन सब की जाग्रत हुए

खेल होता है, उनकी इच्छा होते ही यह फैला हुआ पसारा सिमिट जाता है, उन्हीं में विलीन हो जाता है फिर काल पाकर चलने लगता है, यह खेल कब से चल रहा है, कब तक चलता रहेगा इसका न आज तक किसी को पता चला, न आगे चलने की संभावना ही है क्योंकि जो अनादि है, अनंत है, सनातन तथा शाश्वत है, उसके आदि अन्त का पता लग भी क्या सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्रुतियों का एक समूह स्तुति करके विराम को प्राप्त हो गया, तो दूसरा यूथ आकर स्तुति करने लगा। श्रुतियाँ स्तुति करती हुई कह रही हैं—"प्रभो! आप चिद्घनानन्द हैं। पूर्ण ज्ञान स्वरूप हैं, समस्त दोषों से सदा सर्वदा रहित हैं। फिर भी आप क्रीड़ा के लिये, मनो विनोद के लिये, जीवों के भोग भुगाने के लिये इस स्थावर जंगम जगत् की रचना करते हैं। जड़ चैतन्य युक्त इस संसार की सृष्टि करते हैं, आप अपने ही लिये अपनी इच्छा से जगत् की उत्पत्ति करते हैं। आपके अतिरिक्त और ऐसा है कौन जो ऐसे नाना रूपों से युक्त चित्र विचित्र जगत् को बना सके। जैसे कोई सम्राट् है उसके घर में सभी प्रकार के सुख हैं सभी भोग की सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, जिसे जो आज्ञा देता है वह उसका पालन अविलम्ब करता है। कुछ भी न करे घर के भीतर पड़ा पड़ा आज्ञा ही देता रहे, तो भी उसके सभी कार्य सम्पन्न हो ही सकते हैं। फिर भी वह घर में ही नहीं बैठा रहता। राज्य

कर्मो की उत्पत्ति तब होती है, जब आप मायातीत प्रभु माया की ओर देख देते हैं। आप आकाशके सदृश सम, शून्य की समता धारण करने वाले हैं। आप मन और वाणी के विषय नहीं, आपकी दृष्टि में कोई पर नहीं अपर नहीं।

में भ्रमण करने अन्य नगरों में जाता है। आखेट के लिये सघन वनों में, पर्वत की गुफाओं में तथा अन्य एकान्त स्थानों में जाता ही है। मनोविनोद के लिये भ्रमण करता ही है। वह केवल इच्छा मात्र ही करता है, केवल उसकी इच्छा होते ही सर्वत्र झंडी पताकायें फहराने लगती हैं, लोग स्वागत के लिये फूल मालायें तथा नाना उपहार जुटाने लगते हैं, इसके लिये वह कहता नहीं किन्तु ये सब तैयारियाँ अपने आप होने लगती हैं। इसी प्रकार आप नित्य मुक्त शुद्ध बुद्ध तथा निरंजन हैं फिर भी आप जब क्रीड़ा की इच्छा से माया को देख भर देते हैं, आप के देखने मात्र से ही जीवों के कर्म अपने आप जाग्रत हो उठते हैं, वे कर्म भोगोन्मुख हो जाते हैं। सम्पूर्ण चर अचर स्थावर जंगम लिङ्ग शरीर से उत्पन्न होकर व्यापारोन्मुख होते हैं। जैसे इन्द्र तो केवल वर्षा कर देते हैं। वर्षा होते ही, अगणित जीव अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। चुपचाप पड़े बीज स्वतः ही अंकुरित होने लगते हैं। सम्राज्ञी मधु मक्खी जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है, तो उसे अन्य मक्खियों से कहना नहीं पड़ता वे स्वतः ही उसका अनुगमन करती हैं, बड़ी दीमक के चलने से सभी दीमकें उसके पीछे पीछे चलने लगती हैं। सम्राट के गमन की इच्छा होते ही सब उसका अनुवर्तन करने लगते हैं, सभी अपने अपने साज सामान लेकर सम्राट की इच्छा पूर्ति में जुट जाते हैं। इसी प्रकार आपकी क्रीड़ा की इच्छा होते ही काल अपना काम करने लगता है प्रकृति स्वतः प्रवृत्त हो जाती है, अब तक जो गुण साम्यावस्था में अवस्थित हैं, काल पाकर गुणों में विषमता, आई उनमें क्षोभ उत्पन्न हुआ। प्रकृति पुरुष के संयोग से चक्र चलने लगा। जीवों की उत्पत्ति होने लगी साक्षात् तथा परम्परा से सब प्राणियों की उत्पत्ति आपके ही

द्वारा होती है। आप आकाश के समान हैं। आपमें कोई विषमता नहीं। आप परम दयालु हैं, महान् कारुणिक हैं, कृपा के सिन्धु हैं, समदर्शी और अत्यन्त अनुकम्पा युक्त हैं। आप निजत्व परत्व से परे हैं। यह अपना है, यह पराया है, यह प्रेम करने योग्य है, इससे द्वेष किया जा सकता है, आप इस द्वैधी भाव से रहित हैं, आपकी दृष्टि में सभी प्राणी समान हैं, सभी आपकी कृपा के पात्र हैं, सभी आपकी दया के भाजन हैं।

जीव में जो परिच्छिन्नता अल्पता तथा कर्मों से बँध से जाने के तथा माया में जो जड़ त्वादि दोष हैं, वे आप में लेश मात्र भी नहीं हैं। यद्यपि आप सर्वत्र व्याप्त हैं, आकाश के सदृश सर्वत्र परिपूर्ण हैं, तिस पर भी व्याप्य वस्तुओं के दोषों से सर्वदा रहित ही हैं। इसीलिये आप को निर्लेप निर्द्वन्द्व निरीह तथा मायातीत कहा जाता है सबमें विद्यमान होने पर भी अविद्यमान से प्रतीत होते हैं। प्रभो! आपके सम्बन्ध में भाषा तथा वाणी द्वारा कुछ कहना बनता ही नहीं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इसके अनन्तर दूसरी श्रुतियों का समूह स्तुति करने आया। उन्होंने कहा—"भगवन्! आप नित्य शुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द स्वरूप तथा सर्व भाव विनिर्मुक्त हैं। आप में कोई इच्छा नहीं अभिलाषा नहीं। आप आत्मा में रमण करते रहते हैं, आप आप्त काम हैं, आपको आनन्द के लिये अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई हो तब तो अपेक्षा भी हो आप तो अद्वय हैं, अखंड हैं, केवल हैं, न जाने सात्विक राजस और तामस कर्मों और उनके फलों को अपने उदर में भरी हुई दुबकी सिमटी सकुची जड़ माया आपके किस अंग में बैठी रहती है। आप विशुद्ध चैतन्यघन में यह अचेतन अविद्या माया प्रकृति कैसे स्थान पाती

है इसका किसी ने समुचित उत्तर नहीं दिया। कोई कहते हैं आपमें वह है नहीं, भ्रमवश भासती है। अच्छा भ्रम ही वश सही, यह भ्रम आपको तो हो नहीं सकता। जीवों को भ्रम होता होगा तो ये भ्रमित जीव कहाँ से आ गये। वे भी आपके अंश हैं। अंश में तो अंशी के ही गुण होने चाहिये। आप अंशी में तो भ्रम है नहीं, इस जीव में भ्रम कहाँ से आ गया। जीव में भी भ्रम नहीं यह तो माया जनित है। प्रश्न तो यही है कि यह माया अवश्य कहीं आपके ही आस पास छिपी होगी, जब आप इसे हँसकर देख देते होंगे, तो प्रकृति में क्षोभ हो जाता होगा सृष्टि का चक चल पड़ता होगा। जैसे राजा के लिये मनोरञ्जन की सभी सामग्रियाँ उसके अन्तःपुर में प्रस्तुत हैं। वह वहाँ स्वच्छन्द विहार करता है, किन्तु उसकी इच्छा बाहर जाने की होती है तो उसके निकलते ही छत्रचँवर लेकर सेवक अपने आप ही आगे आगे चलने लगते हैं। यात्रा के सभी सामान स्वयं ही जुट जाते हैं। इसी प्रकार जब माया की ओर आप देख भर देते हैं तब ही प्रकृति के सुप्त कर्म जाग उठते हैं—प्रकृति में हल चल हो जाती है। जितने लिङ्ग शरीर हैं वे भोगोन्मुख हो जाते हैं। उन्हीं से स्थावर जंगम प्राणियों की उत्पत्ति होने लगती है। सब उच्चावच छोटी बड़ी ऊँच नीच योनियों को प्राप्त होकर संसार के प्रवाह में जन्मते मरते रहते हैं। सभी सुख दुःखों का भोग करते हैं। इन मन प्रवाह में पड़े जीवों में से जिनको आप कृपा कटाक्ष से देख देते हैं जिसे आप अपना कह कर वरण कर लेते हैं, वह जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है। सदा के लिये संसार से विमुक्त हो जाता है। इतना होने पर भी आप पक्षपात से शून्य हैं। आपके लिये न कोई अपना है न पराया है। आप तो समदर्शी हैं।

जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है, तो भी व्याप्य वस्तुओं के दोष का आधार आकाश नहीं है। जैसे घड़े का आकाश है और घड़े में धूम तथा धूम के काले काले कण भी भरे हुए हैं फिर भी एक साथ रहने पर भी घड़े का आकाश उन कणों से सर्वथा निर्लिप्त ही रहता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि में से अपने आप ही स्फुलिङ्ग निकलते रहते हैं। अग्नि को स्फुलिंग निर्माण के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता। वे तो स्वभाव से ही निकलते रहते हैं। उनमें कोई विस्फुलिंग बड़ा होता है कोई छोटा होता है। कोई कहीं गिर पड़ता है कोई कहीं कोई घास में गिर गया तो प्रज्वलित होकर महान् अग्नि का रूप रख लेता है, कोई जल में गिर गया तो शान्त हो जाता है, कोई भूमि पत्थर पर गिर गया तो कुछ देर तक वह चमकता है फिर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रभो! जितने भी प्राणधारी हैं, सब आप से ही उत्पन्न होते हैं, अन्त में आप में ही पुनः विलीन हो जाते हैं। जितने ये भू, भुव, स्व, मह, जन, तप, सत्य अतल, वितल, सुतल पाताल, महातल, आदि ऊपर नीचे के लोक हैं काल पाकर आपके ही प्रभाव से प्रकाशित होते हैं फिर कालान्तर में आप में ही विलीन हो जाते हैं। जितने ये देव, उपदेवादि हैं, वे भी आप से ही प्रादुर्भूत होकर आपमें ही समा जाते हैं। कहाँ तक कहें जितने स्थावर जंगम चर अचर जीव हैं सबके ही योनि आप हैं और अन्त में सभी आप में ही आश्रय पाते हैं।

हे नित्यानन्दस्वरूप स्वामिन्! कोई कोई कहते हैं कि ये जितने भी जीव हैं सभी नित्य हैं, सभी सर्वगत है, जब सभी एक से हैं तो उनमें काम कैसे चलेगा। सभी ठाकुर ही ठाकुर बरात में जाँय तो सेवा कौन करेगा। एक से जीवों का नियंत्रण करने वाला कोई एक श्रेष्ठ चाहिये। अतः आप सभी से श्रेष्ठ हैं, सभी के

नियामक हैं। ये जीव आपसे छोटे हैं आप उन सब से महान् हैं आप उन सबका नियन्त्रण करते हैं आप समस्त विश्व ब्रह्माण्डों को अपने अधीन रखते हैं। सबके उत्पत्ति स्थान आप ही हैं, आप कारण रूप से इनका परित्यागन करते हुये इन सबके नियन्ता हैं।

स्वामिन्! आप स्वामी हैं, नियन्ता हैं, उत्पादक हैं। ऐसे हैं वैसे हैं ऐसी कोई भी बात आपके सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। आपके सम्बन्ध में जो यह कहता है-मैंने उन्हें जान लिया उसने कुछ भी नहीं जाना। जो यह कहता है यह भी ब्रह्म नहीं, वह भी ब्रह्म नहीं। ब्रह्म के सम्बन्ध में मैं कुछ निश्चित रूपसे कह नहीं सकता, समझो उसी ने आपको कुछ जाना है। क्योंकि मौन से ही आपके सम्बन्ध में प्रवचन किया जा सकता है। कुछ न कहना ही आपके सम्बन्ध में कुछ कहना है। यदि कोई निर्देश करदे, निश्चयपूर्वक कहदे कि आप ऐसे ही हैं, तो यह बुद्धि निश्चय की हुई मान्यता होगी और मानी हुई समस्त वस्तुएँ दोष युक्त हैं। अतः निश्चय रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। आप सर्वत्र हैं। सब में सम भाव से समवस्थित हैं। अतः जो आपको निश्चय रूप से जानने का अभिमान करते हुए कहते हैं आप ऐसे ही हैं,उनकी मान्यता झूठी है आप उनसे अज्ञात हैं। तत्व ज्ञानियों से विरुद्ध मत दुष्ट मत है, वह अशोभनीय तथा अनादरणीय हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर श्रुतियों का वह समूह स्तुति करते हुए विरत हो गया। थक कर बैठ गया। अब श्रुतियों का अगला यूथ आकर जिस प्रकार से भगवान् की स्तुति करेगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

होवैं जीव असंख्य सर्वगत नित्य सनातन।
तो फिरि तिनिको सतत करैं कैसे प्रभु नियमन॥
होवैं प्रकट सकल तुम में मिलि जावैं।
जैसे चाहैं आपु सबनिकूँ नाच नचावैं॥
बानी मन तें सोचिजे, कहें हमनि जाने अखिल।
प्रभु ते कछु जानत नहीं, बुधि नहीं तिनिकी विमल॥

पद

तुम्हारो कोई नहीं परायो।
माया कूँ निरखो जब स्वामी, तब जग चक्र चलायो॥१॥
मायातीत स्वयं जंगम जड़, क्रीड़ा हिय रचवायो।
विविध भाँति के जीव चराचर, रचिपचिस्वाँग बनायो॥२॥
सम सब थल नभ सम परि पूरन, वेद भेद नहिं पायो।
मन-बानी पहुँचे नहिं तुम तक, योगिनि अलख लखायो॥३॥
नहीं सरवगत नित्य जीव सब, सबकूँ तुमनि बनायो।
सकल नियन्ता सब के कारन, सब निज उदर छिपायो॥४॥
हम जानैं यह कहैं अज्ञ जन, विज्ञ न कछू बतायो।
प्रभु सरबत्र सकल घट निवसें, जिनि खोज्यो तिनि पायो॥५॥

वेद-स्तुति (१०)

(१२६)

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो–
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

प्रकृति पुरुष तो नित्य अनम तिनिको नहिँ होवै ।
जल बुद्बुद बनि जाय नाम निज अपनो खोवै ॥
फिरि जलमें मिलि जायँ मिलैं ज्यों सरिता सागर ।
सब रस मधुमें मिलहिँ भेद नहिँ सुमन अवर पर ॥
सुमन उपाधि विसारि रस, मिलि मधु ही संज्ञा रही ।
मिलहिँ प्रलयमें जीव प्रभु, जिनि वेदनि महिमा कही ॥

प्राणियों के शरीरों में, वापी, कूप, तड़ाग तथा नदियों में तथा जहाँ भी जल दृष्टिगोचर होता है, वह समस्त जल समुद्र से ही

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो ! प्रकृति और पुरुष इन दोनों को बारम्बार "अज" कहा गया है, जो अज है उनका

आता है। सूर्यनारायण समुद्र में से जल लाकर मेघ बना देते हैं, वे मेघ सर्वत्र वायु के संयोग से बरस जाते हैं, सर्वत्र जल पहुँचा देते हैं। आकाश पाताल में वही जल है। फिर समस्त जल ज्यों का त्यों समुद्र में पहुँच जाता है। कैसे जाता है, इसका पता किसी को लगता नहीं। सूर्य को वारितस्कर कहा है अर्थात् पानी के चोर। सूर्य चर और अचर समस्त प्राणियों के शरीरों से कैसे जल को चुरा ले जाते हैं इसे कोई देख नहीं सकता। आप कितना भी बंद करके सात कोठरियों के भीतर ताला लगाकर जल रख दीजिये उसमें से कुछ न कुछ चोरी हो जायगा। सूर्यनारायण की तीक्ष्ण किरणें वहाँ से भी जल को चुरा लावेंगी। चुराकर रखेंगी कहाँ? वहीं समुद्र में। जल का वहीं तो आलय है। चाहें आप जल को भूमि में डाल दें, गड्हे में फेंक दें, नदी में उड़ेल दें, खेत में भर दें, वह घूम फिरकर चक्कर लगाकर जायगा समुद्र में ही। समुद्र के जल को आप पान नहीं कर सकते। उससे दाल-भात नहीं बना सकते, किन्तु उसी को—जब सूर्यनारायण अपनी किरणों में भरकर वापी, कूप, तड़ाग तथा नदियों में, पर्वत स्रोतों में पहुँचा देते हैं तो वह सबके पीने योग्य परम स्वादिष्ट बन जाता है। समुद्र के जल में और इसमें भेद हो जाता है। फिर वही बहते बहते समुद्र में मिल जाता है, तो तद्रूप हो जाता है। फिर आप नहीं पहिचान सकते कि समुद्र में मिले ए

उत्पन्न होना घटित नहीं होता। किन्तु इन दोनों के संयोग होने से जैसे जल से बुद्बुद होते हैं, वैसे ही इनके संयोग से नाना जीव हो जाते हैं। फिर वे सब विविध नाम और गुण वाले आप परमेश्वर में उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जैसे नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, जैसे समस्त रस मधु में विलीन हो जाते हैं।"

में कितना अंश अमुक वापी का है, कितना अमुक कूप का है, कितना अमुक नदी का है, सभी एकाकार एकार्णव बन जाता है। फिर सूर्य लाते हैं फिर विभाग बनवा है। यह संयोग वियोग कब से चल रहा है, कब तक चलेगा। इसका उत्तर आज तक तो किसी ने ठीक ठीक दिया नहीं। आगे भी कोई दे सकेगा ऐसी आशा नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब श्रुतियों का एक समूह अपनी शक्ति सामर्थ्यानुसार स्तुति करके निवृत्त हो गया तो दूसरा यूथ आकर प्रभु की स्तुति करने लगा भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन् ! कुछ लोग कहते हैं—"प्रकृति और पुरुष ही उत्पन्न होकर सृष्टि की रचना करते हैं। किन्तु ऐसा कहना उनका भ्रम ही है। प्रकृति तो अजा है, लाल सफेद और काले रङ्ग की बकरी है। वह किसी से उत्पन्न नहीं हुई। कभी पैदा नहीं हुई इसीलिये इसकी अजा संज्ञा हुई। इसका आदि नहीं इसीलिये इसे विद्वजन अनादि कहते हैं। इसी प्रकार पुरुष को भी अज कहा है। जब ये दोनों ही जन्मरहित अज तथा अनादि हैं, तब इनका उत्पन्न होना बन ही नहीं सकता। ये तो विद्यमान ही हैं, फिर भी इन दोनों के संयोग होने से तथा आप सत्य संकल्प के संकल्प द्वारा यह सृष्टि हो जाती है। जैसे जल विद्यमान है और वायु भी विद्यमान है। उन विद्यमान जल के कुछ कणों का जब पवन से संयोग होता है, तो उन दोनों के संयोग से बुद्बुद उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि वे बुलबुले जल से ही उत्पन्न हुए हैं, तथापि जल से नाम रूप में भिन्न हो प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार काल आने पर कर्मों को निमित्त बनाकर आपसे प्रकृति पुरुष का संयोग होने से सृष्टि का प्रवाह चलने लगता

है। प्रकृति से महत्तत्व, अहंतत्व, अन्तःकरण तथा इन्द्रियों आदि की उत्पत्ति होती है और पुरुष के द्वारा देव, मनुष्यादि योनियों को नाम रूप की प्राप्ति होती है। इसे ही प्रकृति पुरुष की उत्पत्ति कह सकते हैं। अंत में ये सभी जीव आपमें ही अपना नाम रूप त्यागकर विलीन हो जाते हैं। समय आने पर फिर कर्मानुसार नाम रूप की उपाधि धारण करके प्रकट हो जाते हैं।

स्वामिन् ! आप में जब समस्त जीव विलीन होते हैं, तो उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। भेद तो होता है नाम और रूप के द्वारा वे उपाधि उस समय रहती नहीं। जैसे कमलके पुष्प मल्लिका, मालती, माधवी, पारिजात तथा अन्यान्य सभी पुष्पों में रस रहता है जब तक वे पुष्पों के आश्रय में हैं तब तक तो कहा जाता है यह अमुक पुष्प का रस है किन्तु जब मधुमक्खी द्वारा सब पुष्पों से रस एकत्रित करके मधुरूप में परिणित हो जाता है तो फिर यह विवेक नहीं रहता कि यह किस पुष्प का रस है। सबकी मिलकर मधु संज्ञा ही हो जाती है।

भगवन् ! भक्तिमार्ग में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये पांच रस हैं। जैसे इन पाँचों का ही समावेश मधुर रस में हो जाता है। मधुर में शान्त भी है, सख्य का भी आस्वादन है, दास्य भी छिपा है, वात्सल्य भी है और मधुर तो प्रत्यक्ष दीखता ही है। उसी प्रकार मधु शहद में खट्टा, चरपरा, नमकीन, कड़वा, कसैला और मीठा ये सभी रस विद्यमान हैं। किसी पुष्प का कड़वाहट लिये हुए रस है किसी में नमकीन मिला है। ये छओ रस के स्वाद मधु में विद्यमान हैं। किन्तु मीठे ने उन सब को छिपा दिया है सभी रस मीठे में मिल गये हैं।

इसी प्रकार प्रलय काल में सभी जीव आपमें एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

जैसे जब जल नदियों में बहता है तो किसी नदी का जल बहुत मीठा होता है, किसी का खारा होता है, किसी का सफेद होता है, किसी का लाल किसी का नीला। किन्तु जब वे समुद्र में जाकर मिल जाती हैं तो फिर अपने पृथक् पृथक् नाम रूप तथा स्वाद को छोड़कर समुद्र के ही जल में तदाकार बन जाती हैं। हे देवाधिदेव! आपमें तो कोई उपाधि है नहीं आप तो नाम रूप उपाधि से रहित हैं। अतः ये अपनी अपनी नाम रूप उपाधियाँ सहित आपमें कैसे मिल सकते हैं? अतः हे सर्वातीत! सर्वगत! सबकी उत्पत्ति के स्थान भी आप ही हैं और सब के विश्राम स्थान भी आप ही हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब श्रुतियों का एक समूह स्तुति करते करते थक गया तो दूसरी श्रुतियों का समूह आकर स्तुति करने लगा। भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! एक मात्र भजनीय तो आप ही हैं। किन्तु हम आप का भजन कैसे करें? सृष्टि के आदि में सृष्टि चक्र को चलाने के लिये आपने काल और माया को रचा। जो जीव माया मोहित हो जाते हैं काल उन्हें भक्षण कर जाता है वे बारम्बार जनमते हैं मरते हैं। काल चक्र में भ्रमते रहते हैं। फिर जीव आपको कैसे प्राप्त कर सकते हैं? कैसे इस संसार बंधन से विमुक्त हो सकते हैं? कैसे काल पाश से छूट सकते हैं? तो स्वामिन्! आपने बारम्बार जीवों को आश्वस्त किया कि एक बार भी जो "मैं प्रपन्न हूँ" ऐसा कह देता है उसे मैं सभी भूतों से अभय प्रदान

देता हूँ। और भी आपने कहा है यह मेरी दैवी गुण मयी माया दुरत्यय है। जो मेरे प्रपन्न हो जाते हैं वे ही इस कठिनता से पार होने वाली माया से तर जाते हैं, किन्तु प्रभो ! हम तो माया मोहित होने के कारण आपकी शरण में आते नहीं। इसी कारण काल के अधीन होकर भ्रमते रहते हैं। कोई कोई सुधी जन विद्याबुद्धि विवेक द्वारा इस आवागमन से छूटने के कारण आपके चरणारविन्दों में दृढ़ भक्ति करते हैं, क्योंकि आप एक मात्र भक्ति द्वारा ग्राह्य हैं। जिन्होंने आपके अरुण वरण के चरणारविन्दों का आश्रय ग्रहण कर लिया फिर वे भव वारिधि में कभी डूब ही नहीं सकते क्योंकि कमल सदा जल से ऊपर ही रहता है, जल में रहने पर भी उससे निर्लेप ही बना रहता है।

स्वामिन् ! यह काल बड़ा बली है। समस्त बलवानों से भी अधिक बलशाली है। समस्त जीव इसके नाम से ही थर थर काँपते रहते हैं, इसके सम्मुख किसी की भी कुछ चलती नहीं। यह काल कभी शीतल बनकर सभी को जाड़े में कँपा देता है, कभी ग्रीष्म बनकर सबको तपा देता है, रुला देता है। कभी वर्षामय होकर सबको शीतल कर देता है। शीत, ग्रीष्म और वर्षा तीन भागवाला यह कालचक्र उन्हीं को क्लेश पहुँचाने में समर्थ होता है, जो आपके प्रपन्न नहीं होते, आपकी भक्ति से विमुख हैं, किन्तु भवभयहारी भगवन् ! जो आपकी शरण हो चुके हैं, जो आपके अनुगत बन चुके हैं, जिन्होंने सर्वात्म भाव से अपने को आपके लिये समर्पित कर दिया है। उन शरणागत भक्तों को आपका यह

भ्रुकुटि विलासरूप यह काल कैसे भय पहुँचा सकता है ? कैसे उन्हें क्लेश दे सकता है । कैसे उन्हें अपने पंजे में फँसा सकता है ? उन आपके प्रपन्न प्रिय भक्तों को जन्म मरण रूप संसार का भय कैसे रह सकता है ?

हे कृपा के सागर ! रागद्वेष काम क्रोधादि शत्रु तभी तक दुख दे सकते हैं, यह भव बन्धन तभी तक रह सकता है, जब तक यह जीव आपका प्रिय भक्त नहीं बन जाता । आपका भक्त हो जाने से तो जीव निर्भय बन जाता है, वह स्वस्थ होकर तान दुपट्टा सोता है, मृत्यु उससे दूर भग जाती है । काल उसे अपना कवल बनाने में समर्थ नहीं होता ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार श्रुतियों का वह भी समूह जब स्तुति करके उससे उपरत हो गया, तो दूसरा यूथ स्तुति करने आया । उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

माया मोहित जीव कालवश मरि मरि होवैं ।
भवसागरमें भ्रमत विजित बाजीकूँ खोवैं ॥
सुधी समुझि सबसार भक्ति तव चरन दृढ़ावैं ।
भक्त भये भय भग्यो काल हू डरि भगि जावैं ॥
भ्रुकुटि बिलास सरूप जिह, शीतल बरषा ग्रीष्ममय ।
करै अभक्तनि बन्धनित, प्रभु भक्तनि करिदे अभय ॥

पद

प्रकृति अरु पुरुष नित्य भरमावैं ।
उभय परस पर मिलहिँ कालवश, नाना योनि बनावैं ॥१॥
ज्यों जलकन मिलि अनिल संगमें, बुद्बुद सृष्टि करावैं ।
त्यों मिलि प्रकृति पुरुष प्रभु इच्छा, नाना जीव रचावैं ॥२॥
ज्यों सरिता सागरमें मिलिकैं, नाम रूप बिसरावैं ।
सबरस मिलि ज्यों मधुबनि जावैं, तुममें जीव समावैं ॥३॥
माया मोहित जीव भ्रमैं जग, पुनि जनमें मरि जावैं ।
काल चक्रतें वे बचि जावैं, चरन शरन तब आवैं ॥४॥
शरनागत जनमैं नहिँ पुनि पुनि, प्रेमामृत फल पावैं ।
अनुगत भक्तनि भय भगि जावै, जे प्रभु पद नित ध्यावैं ॥५॥

वेद-स्तुति (११)

(१३०)

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं-
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं-
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

चित अति चंचल चपल तुरँग सम इत उत भरमत।
योगी हू अति दुखित रहत जे सतत समाहित॥
ता मनकूँ गुरु चरन शरन बिनु वश में चाहें।
होवैं वशमें नहीं भ्रमैं इत उत पछिताहें॥
करनधार बिनु जलधिमें, पोत बनिक लै जायँ जे।
भँमर परे डगमग करे, रोवैं पुनि पछितायँ ते॥

हमने अपने मन से ही इस संसार में विभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लिये हैं। मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरे

---

* भगवान् की स्तुति करती हुईं श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे प्रभो! यह चित्त अति चंचल घोड़े से भी बढ़कर चंचल है। वे योगी गण जिन्होंने

वाहन हैं ये मेरे सम्बन्धी हैं यदि मन वश में हो जाय। मन की बिखरी हुई असंख्यों वृत्तियों का निरोध हो जाय तो सभी चिन्ता और शोक दूर हो जायँ। सभी दुःख मिट जायँ, किन्तु यह मन अत्यन्त ही चञ्चल है। यह क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता। इसे स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, न जाने कब निकल भागता है। इसका पता ही नहीं लगता। सभी शास्त्रों का विषय एक ही है। यह चंचल चपल मन वश में कैसे हो। जो लोग बिना किसी की सहायता लिये स्वयं ही अपने आप इस मन को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, उनका प्रयास कठिनता से सिद्ध हो सकता है। जिन्होंने जिस मार्ग को देखा है, उसमें किसी के निर्देशानुसार गये हैं। वहाँ के दुःख सुखों का अनुभव कर चुके हैं। यदि उनकी सहायता से उनके संरक्षण में रह कर यात्रा की जाय तो सुगमता से उस पथ को पार कर सकते हैं। बिना पथ प्रदर्शक के चलने से तो पग पग पर असुविधाओं का सामना करना पड़ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे परमेश्वर ! हे भक्तभावन ! मन को वश में करना सरल नहीं सुगम नहीं सर्वसाध्य नहीं। बहुत से लोग कहते हैं हम योगाभ्यास के द्वारा मन को वश में कर लेंगे। इसके लिये वे यम नियमों का पालन करते हुए विविध

प्राणायाम साधनों द्वारा प्राण तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वे भी इसका पूर्णरीत्या दमन नहीं कर सकते। ऐसे चंचल मनको जो गुरु चरणों की शरण का परित्याग करके अन्य उपायों द्वारा वशमें करना चाहते हैं। वे उसी प्रकार विपत्तियों में फँस जाते है, जिस प्रकार बिना मल्लाह की नौका को लिये हुए व्यापारी समुद्र में फँस कर भाँति भाँति के क्लेशों को उठाते हैं।

आसनों का अभ्यास करते हैं। प्राणायाम के द्वारा प्राणों का तथा समस्त इन्द्रियों का निरोध करते हैं। किन्तु वे भी मन को वश में नहीं कर सकते। बारम्बार प्रयत्न करने पर भी मन भाग ही जाता है। जैसे अत्यन्त चंचल अश्व को लगाम लगाकर विविध उपाय करके वश में लाने का प्रयत्न करो किन्तु अपनी चंचलता से वह अवसर पाकर निकल ही भागता है। उसी प्रकार योग के विविध उपाय तो करो, किन्तु गुरुदेव की शरण में न जाओ। उनके मार्ग दर्शन की उपेक्षा कर दो तो वह योग साधन व्यर्थ है। गुरु बिनु ज्ञान कैसे हो सकता है शिक्षक के बिना शिक्षा कैसे प्राप्त की जा सकती है। यह नृदेह एक सुदृढ़ नौका है इसीके द्वारा भव सागर को पार किया जा सकता है। साधक को उसमें बिठाकर उस पार गुरुदेव ही ले जा सकते हैं। गुरु ही कर्णधार है। आपकी कृपा ही अनुकूल वायु है ये सभी साधन जुट जाय तो संसार से पार होना कोई कठिन कार्य नहीं किन्तु कोई साधक अभिमान के वशीभूत होकर बिना मल्लाह के ही नौका को स्वतः जल में खींच ले जाते हैं और अपने अहंभाव से ही पार होना चाहते हैं उनका प्रयास उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे बौने का आकाश छूने का प्रयास व्यर्थ होता है।

श्री गुरुचरणों की शरण त्याग कर जो अन्य उपायों में स्वतः ही श्रम करते रहते हैं वे उसी प्रकार नाना विपत्तियों से घिर जाते हैं जिस प्रकार वह व्यापारी वणिक यात्री तूफान आने पर बिना मल्लाह की नौका से जल में घिर जाता है। उसे पग पग पर आपत्ति विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। अतः आपके पाने वाले साधकों को गुरुचरणों की शरण ग्रहण करनी चाहिये। वैसे सब के गुरु परम गुरु तो आप ही हैं। आप ही गुरु बन कर उपदेश करते हैं और इष्ट साधन

बन करके प्राप्ति ही आपकी होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ? इस प्रकार श्रुतियों के एक यूथ की स्तुति समाप्त होने पर दूसरा यूथ स्तुति करने आगे बढ़ा। उस यूथ की श्रुतियाँ स्तुति करते हुए कह रहीं हैं—"हे प्रभो ? यह जीव निरतिशय सुख चाहता है। सुख की इच्छा के लिये इधर उधर भटकता रहता है। सुख प्रेम के बिना मिलता नहीं। इस लिये यह पहिले सभी स्वजनों के समीप जाता है। ये स्वजन मुझे प्रेम प्रदान करेंगे उन्हें समय समय पर भोजन कराता है उनके सुख में सुखी और दुख में दुखी होता है किन्तु वे स्वजन इससे अधिकाधिक संसारी सुख सुविधा चाहते हैं उनकी इच्छा पूर्ति नहीं होती तो वे द्वेष करते हैं नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

फिर जीव सोचता है स्वजन तो भिन्न भिन्न प्रकृति के हैं, यदि मैं पुत्र से प्यार करूँगा तो सुखी होऊँगा क्योंकि पुत्र तो अपनीही आत्मा होता है "आत्मा वैजायते पुत्रः" किन्तु कृपालो ! पुत्रों से आज तक किसी को शाश्वत सुख मिला है ? पुत्र तो चाहते हैं पिता का रस चूस लें पुत्र तो और दुखी बनाते रहते हैं। फिर सोचता है अपने शरीर को ही भली भाँति रच पच के राखो। इसका शृङ्गार करो अच्छे अच्छे पदार्थ खिलाकर इसे पुष्ट करो किन्तु यह अनित्य शरीर क्या सुख पहुँचा सकता है यह तो रोग तथा मलों का आलय है। फिर सोचता है स्त्री अर्धाङ्गिनी है इसीसे सुख मिलेगा किन्तु जो स्वयं मर्त्य धर्मा है काल जिसके पीछे लाठी लेकर पड़ा है वह पत्नी कैसे सुखी बना सकती है। इसी प्रकार कभी धन में सुख खोजता है, कभी धाम में, कभी भूमि में कभी प्राण तथा हाथी घोड़ा रथ

आदि वाहनों में सुख का अन्वेषण करता है किन्तु स्वामिन्? सुख के स्रोत तो आप हैं आश्रितों के एकमात्र आश्रय तो आप अच्युत हैं। सम्पूर्ण आनन्दों के आलय तो आप अखिलेश हैं। आप परमानन्द स्वरूप के रहते स्वजन पुत्रादि क्या सुख दे सकते हैं इनसे प्राणियों का क्या लाभ हो सकता है?

जो इस परम सत्य सिद्धांत से अनभिज्ञ हैं जो इस यथार्थ रहस्य को नहीं जानते, वे स्त्री सुख को ही सर्वोपरि सुख मानकर उसी में निरत रहते हैं। वे कामिनी के संस्पर्श सुख को ही उत्तम सुख समझते हैं, किंतु जो स्वतः नश्वर है वह शाश्वत सुख कैसे दे सकता है? जो स्वयं नीरस सारहीन है, वह दूसरोंको रस प्रदान कैसे कर सकता है? यथार्थ सुख तो आपके संस्पर्श में है जिसे हृदय से आपका संस्पर्श प्राप्त हो गया, वही यथार्थ में सुखी बन गया, उसी को परमानन्द की प्राप्ति हो गयी। जो आपसे पराङ् मुख हैं, आपके संस्पर्श से वञ्चित हैं, उन्हें संसारी कौन सी वस्तु सुखी बना सकती है? कौन नश्वर पदार्थ उन्हें प्रमुदित कर सकता है अतः प्रभो! सुख तो आपकी सन्निधि में है। आनन्द तो आप आनंदरसार्णव सर्वानंदमय सर्वेश्वर की शरण में है। अतः हे प्रभो! हमें आप अपने चरणों की शरण दीजिये। यही आपके चरणारविंदों में पुनः पुनः प्रार्थना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो इतना कहकर वह श्रुतियों का समूह विराम को प्राप्त हो गया। इसके अनंतर श्रुतियों के दूसरे यूथ ने आकर भगवान् की जैसे स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

ये सुख का दै सकें स्वजन सुत घरनि धाम धन।
प्रमदा प्रान महान मान तन सुखकर बाहन ॥
नाशवान सब छनिक दुःख परिनाम सबनिको।
सर्वानन्द स्वरूप करें मङ्गल जीवनिको ॥
सिस्नोदरपालक पुरुष, रति-सुखमें जे नित निरत।
सारहीन संसार में, करें सुखी तिनि कवन चित ॥

पद

गुरु बिनु भवसागर कस तरिहैं।
यह चित चंचल नव तुरङ्ग सम कैसे बशमें करिहैं ॥१॥
जोग जोग जतन तैं माननि इन्द्रिनि बश करि लइहैं।
नहिं मन दमन होहि तिनहू पै, नितप्रति पचिपचि मरिहैं ॥२॥
गुरु चरननि तजि अन्य जतन करि, पुनि पुनि भवजल परिहैं।
करनधार बिनु तरनि पकरिकैं, कैसे बनिज उबरिहैं ॥३॥
सुत कलत्र धनधाम स्वजन तन, बाहन शांति न करिहैं।
आनँदसिंधु पतितपावन प्रभु, कृपा बिना नित डरिहैं ॥४॥
यह संसार असार अमङ्गल, रति सुख सार समुझिहैं।
ते न सुखी होवैं दुख पावैं, पुनि पुनि जनमें मरिहैं ॥५॥

वेद-स्तुति (१२)

(१३१)

भुवि पुरुपुण्यतीर्थ सदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

धन्य धन्य ते पुरुष मोह मद रहित सरल चित ।
अरुन बरन तव चरनकमल हियमें धारहिँ नित ॥
तिनि पादोदक पापपुञ्जकूँ देहिँ गलाई ।
तीर्थरूप ते सन्त अवनि पै फिरहिँ सदाई ॥
सुख स्वरूप प्रभु चरनमें, लग्यो सकृत जिनि जननि चित ।
धीरज विरति विराग हर, घरलें होवें ते विरत ॥

यह जीव तभी तक जगत् में भटकता रहता है जब तक इसे

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे भगवन् ! मद से रहित वे ऋषिगण भूतल पर परम पुण्यमय तीर्थ स्वरूप हैं जिन्होंने

सच्चे सुख का तनिक भी भान नहीं मिलता। उस परमोत्कृष्ट सुख का आभासमात्र मिलने पर फिर संसार का कोई भी पदार्थ उसे भाता नहीं। शास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम की इतनी प्रशंसा की है वह इसलिये कि इसमें पंचयज्ञ होते हैं, दान, धर्म व्रत करने को मिलता है अतिथि सेवा होती है। यदि ये सब न हों तो गृहस्थियों का घर क्या है नरक, बधशाला है। जिसमें निरंतर राग-द्वेप, काम, क्रोध मद्मत्सर उन्हें कष्ट देता रहता है। इसलिए गृहस्थियों को गृहमेधी कहा है। जैसे अश्वमेध, गोमेध, नरमेधादि होते हैं जिन में पशुओं की बलि दी जाती है वैसे ही घर में पुरुषों के सद्गुणों की बलि दी जाती है। घर में जब अन्न न हो, बच्चे भूख से तड़फड़ाते हों, स्त्री भूख से रोती हो अपने उदर की ज्वाला विकल बना रही हो तब कोई विरला ही होगा जो सत्य धर्म पर अड़ा रहेगा, नहीं तो बड़े से बड़े लोगों का साहस कम हो जाता है, उनका मन विचलित बन जाता है और वे परिवार पालन तथा क्षुधा की निवृत्ति के लिये बड़े से बड़ा पाप करने को उद्यत हो जाते हैं। ऐसे घरों में और उनमें रहने वाले राग-द्वेप युक्त परिजनों में रह कर साधक कैसे जप, तप, अनुष्ठान तथा अन्यान्य साधन कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जिन्हें भाग्य वश कैसे भी आपके चरणारविन्द मकरन्द का एकबार स्वाद मिल गया है, किसी आप

आपके चरणारविन्दों को अपने हृदय में धारण कर रखा है, उनका चरणोंदक पापों को नाश करने वाला होता है जिनका मन एक बार भी आपके पादपद्मों में लग गया है वे पुरुषों के सार को हरनेवाले गृहस्थाश्रम की फिर उपासना नहीं करते।"

के आश्रित भक्त ने जिस पर एकबार भी कृपा की दृष्टि डाल दी है वह फिर गृहस्थी में रह कर नित्य नये पापों को बटोरता रहे यह हो नहीं सकता। आपके भक्त तो परोपकारी होते हैं, आपका भजन करने से वे आपके ही स्वरूप हो जाते हैं।

संसार में जिन पर भगवन्! चार पैसे हो जाते हैं वे मारे अभिमान के अन्य किसी को कुछ समझते ही नहीं। वे सदा मदमें भरे अकड़ते रहते हैं इठला कर चलते हैं। किसी पर धन अधिक हो गया, किसी पर विद्या आ गयी, किसी को रूप अधिक मिल गया,किसी पर सुन्दर सुत कलत्र संयोगवश हो गये तो ये सब मद- माते बन जाते हैं, अपने सम्मुख सभी को तुच्छ समझते हैं, किन्तु भक्त वत्सल! जो आपके भक्त हैं, जिनका चित्त आपमें अनुरक्त है, वे धनमद, जनमद, विद्यामद तथा ऐश्वर्यादि मदों से रहित बन जाते हैं। उन्हें कोई भी मद अपने पथ से डिगा नहीं सकता। उनके हृदय में लक्ष्मी जी के आश्रय, कमल से भी अधिक कोमल अरुणवरण के आपके चरणारविन्द सदा विराजमान रहते हैं। वे उन पुनीत पादपद्मों को निर्धन के परमधन के सदृश सदा धारण किये रहते हैं। जब उनके हृदय में अगणित पाप पुंजों का नाश करने वाले आपके पाद पद्म अवस्थित हैं, तब उनकी समस्त चेष्टायें दिव्य हो जाती हैं, उनके संसर्ग में आने वाले प्राणी पावन बन जाते हैं, उनके शरीर से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुएँ दिव्य हो जाती हैं। उनका चरणोदक पाप पुंजों को ढहाने में इन्द्र के वज्र का काम देता है। आपके भक्तों का चरणोदक सभी पापों को नाश करने में सदा सर्वदा समर्थ रहता है। वे भक्त साकार देव हैं, आपके स्वरूप ही हैं, पृथिवी के पुण्यतम श्रेष्ठातिश्रेष्ठ तीर्थ हीं हैं।

स्वामिन्! ऐसे संतों की अनुग्रह से जिनका चित्त एकबार भी आप नित्य सुखस्वरूप परमानन्द रूप आप में लग गया तो फिर क्या वे घर में रह सकते हैं? क्या विषय सुख में अपना समय व्यतीत कर सकते हैं? नहीं कदापि नहीं। हे गुणालय! घर में रह कर पुरुष बन्दी बन जाता है, अपनी सीमा में ही रह कर उसे सब काम करने पड़ते हैं विवेक वहाँ रहता नहीं। वैराग्य छोड़ कर सदा के लिये चला जाता है। धैर्य साथ छोड़ देता है। उसका स्थान अधैर्य धारण कर लेता है। पग पग पर अधीरता का सामना करना पड़ता है। क्षमा रहती ही नहीं। इच्छा होती हैं जो हमारा अपकारी है, हमसे द्वेष करता है, उसे दाढ़ों के नीचे दबा कर पीस दें। अपकारी के साथ अपकार करनेकी भावना घर कर लेती है। स्वेच्छा से किसी को भी क्षमा करने की इच्छा नहीं होती। शान्ति तो सदा सर्वदा के लिये विदा हो जाती है। पल-पल पर अशान्ति, मन की इच्छित वस्तु न मिली तो महान् अशांति, मिल गयी तो उससे भी अधिक प्राप्त करने की अशांति सारांश यह है कि घर में नाममात्र की भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। ऐसे सद्गुणों को नाश करने वाले घर में आपके भक्त कैसे आसक्त रह सकते हैं। वे घर बार कुटुम्ब परिवार की आसक्ति को सब प्रकार से त्यागकर एक आप में ही मन को लगाते हैं। वे ऐसे पुरुषसारहर घर में फँसे कैसे रह सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके पहिले यूथ के चले जाने पर श्रुतियों का अन्य यूथ भगवान् की स्तुति करने आगे बढ़ा। उस यूथ की समस्त श्रुतियाँ स्तुति करती हुई कहने लगीं—"भगवन्! कुछ लोग कहते हैं—"जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उसी के स्वभाव का होता है, उसी के गुणवाला होता है। जैसे सुवर्ण से उत्पन्न कटक कुण्डल आदि सुवर्ण रूप

ही होते हैं। मृत्तिका से उत्पन्न घड़ा, सकोरा, नाद आदि मृत्तिकामय ही होते हैं, इससे सिद्ध कि सत् ब्रह्म से उत्पन्न यह प्रपंच भी सत् ही होगा। ब्रह्म की भाँति जगत् भी सत्य है, इसे मिथ्या नहीं होना चाहिये। सो भगवन्! यह मत ठीक नहीं। जैसे मिट्टी से घड़ा बना तो उसे सदा घड़ा ही बना रहना चाहिये। कनक से कुण्डल बना तो उसे सदा कुंडल ही बना रहना चाहिये। क्योंकि सद् का तो कभी नाश होता नहीं, किन्तु हम देखते हैं, आज मिट्टी है उसका घड़ा बना, कालान्तर में घड़ा नष्ट हो गया उसी मिट्टी से सकोरा बन गया फिर उसी मिट्टी से हँड़िया बन गयी, फिर नाद बन गयी। घड़ा, सकोरा, हँड़िया नाद आदि बनते बिगड़ते रहते हैं, किन्तु मिट्टी एकरस रहती है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि एक मिट्टी ही सत्य है, उससे बने घड़ा सकोरा आदि मिथ्या हैं। अच्छा फिर यह भी नहीं है कि एक वस्तु से उसी के गुण स्वभाव वाली वस्तु हो। जल से कमल उत्पन्न होता है, दोनों का भिन्न स्वभाव है। धर्मात्मा महाराज अङ्ग से महाखल महापापी बैन उत्पन्न हुआ। महापापी बैन के अङ्ग से भगवान् के अंशावतार आदिराजा महाराजा पृथु की उत्पत्ति हुई। समुद्र से विष भी उत्पन्न हुआ, अमृत भी उसी से उत्पन्न हुआ। देह चैतन्य है उससे दाँत, नख, केश इन जड़ वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। गोबर जड़ है उससे बिच्छू उत्पन्न हो जाते हैं, जड़ खम्भ से चैतन्य स्वरूप भगवान् नृसिंह उत्पन्न हो गये।

स्वामिन्! इस पर कुछ लोग कहते हैं कि हम निमित्त कारण न लेकर उपादान कारण ही लेते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मृत्तिका है, चाक, कुम्हार आदि निमित्त कारण है। कुम्हार ने जो घड़ा बनाया चाक से जो घड़ा बना वह कुम्हार और चाक से

भिन्न है और सत्य भी है। किन्तु उपादान के बिना निमित्त कुछ कर ही नहीं सकता। अन्य उपादान बनाकर कुछ करेगा भी तो वह बनावटी होगा। जैसे सुवर्णकार सोने को छोड़कर अन्य किसी वस्तु से कंकण कुंडल बना दे तो एक बार किसी को भ्रम भले ही हो जाय, कि यह सुवर्णके कुंडल हैं, किंतु ध्यानसे देखने से वह समझ जायगा ये तो सुवर्ण के नहीं हैं। जिस काल में जिसका सद्भाव प्रतीत हो और उसी काल में उसी स्थान पर वह अभाव प्रतीत हो जाय तो उसे मिथ्या कहते हैं, भ्रम कहते हैं। जैसे दूर से हमने किसी व्यक्ति को देखा यह देवदत्त है, तो उस आदमी के शरीर में देवदत्त का पूरा सद्भाव प्रकट हो गया। उसी काल में वहीं पर समीप जाकर हमने देखा, अरे यह देवदत्त नहीं कोई अन्य है तो देवदत्त का अभाव हो गया तो वह हमारा भ्रम था। असत्भ्रांति थी। दूर से रस्सी टेढ़ी मेढ़ी पड़ी है। उसमें हमें सर्प की प्रतीति हुई। प्रकाश लेकर उसी समय गये और उसी काल में उसी देश में, उसी रज्जु में हमें रज्जु का भान हो गया तो सर्प मिथ्या सिद्ध हुआ। दूर से सीपी में रजत की प्रतीति हुई पास जाकर देखा तो पता चला यह रजत नहीं सीपी है, तो उसमें रजत की प्रतीति मिथ्या है। इसी प्रकार भगवन्! यह उभय संयोग से उत्पन्न भी प्रपंच माना जाय तो भी इसमें यथार्थ सत्यता सिद्ध नहीं होती। फिर भी जगत् को सत्य मानकर समस्त लौकिक वैदिक कर्म किये जाते हैं। कुछ लोग जगत् को सत्य मानने का ही आग्रह करते हैं कोई कहते हैं। सत् असत् दोनों है, कोई

कहते हैं वेद तो कर्मों का ही प्रतिपादन करते हैं। वेदों में स्पष्ट लिखा है सोमयज्ञों में सोमपान करके हम अमर हो जायँगे। इस प्रकार प्रभो! आपकी जो यह वेदरूपा वाणी है, वह नाना भाँति से विषय का प्रतिपादन करके जो जड़ बुद्धि वाले जीव हैं उन्हें मोह में डाले हुए है। जो लोग आपकी भक्ति से शून्य हैं, आपके चरणारविन्दों में जिनकी अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं ऐसे भ्रमित लोगों को वेद का कुछ से कुछ ही अर्थ प्रतीत होता है। यह आपकी गुणमयी दैवी माया ही ऐसी प्रबल है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके जब यह भी श्रुतियों का समूह थक गया और उसने मौन धारण कर लिया तब दूसरा यूथ स्तुति करने के लिये सम्मुख आया। अब भी उस यूथ की श्रुतियों ने जैसे परात्पर प्रभु की स्तुति की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस परम रहस्य मय गूढ़ ज्ञान को दत्त चित्त होकर बड़ी सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

कोई जगकूँ कहें सत्य यह सत् तैं आयो।
कोई दे दे युक्ति सत्य तैं असत् बतायो॥
कोई माया ब्रह्म जीवकूँ सत्य बतावें।
कोई कहें विशिष्ट अपर कछु और जतावें॥
कोई कर्म प्रधान कहि, कहें कर्म ही सत्य है।
फँसे वेदवानी अगुन, का यह सत्य असत्य है॥

पद

भक्त ही जग में धन्य कहावें ।
त्यागि मान मद मोह सदाई हरिकूँ हिये बिठावें ॥१॥
पादोदक दै पाप नसावें, तीर्थ रूप कहलावें ।
भूले भटके शरन आइँ जे तिनिकूँ गैल बतावें ॥२॥
जिनि चितचोर चरन चित लाग्यो ते जग सुखनि भुलावें ।
पुरुषसारहर घरमें कबहूँ मनकूँ नहिं अटकावें ॥३॥
कोई जगकूँ सत्य बतावें जुगतिनि तें समुझावें ।
कोई ब्रह्म सत्य जग मिथ्या की नित रटन लगावें ॥४॥
कोई कर्महि सार जतावें, वेदनि कर्म बतावें ।
जानि जथारथ वेद अर्थ नहिं, जड़मति भ्रमें भ्रमावें ॥५॥

वेद-स्तुति (१३)

(१३२)

न यदिदमग्र आसन भविष्यदतो निधना-
तदनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजाति विकल्पपथै-
र्वितथमनो विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

जगत् सृष्टि तैं पूर्व रह्यो नहिँ सब जग जानैं।
प्रलय अनंतर नहीं रहे निगमागम मानैं॥
आदि अंत जो नहीं मध्य फिरि होवै कैसे।
मिट्टी तैं घट कहें कनकतैं कुंडल जैसे॥
मनोविलास समान जग, भ्रमवश भासित होत यह।
सुधी न सत् समुझैं कबहुँ, अबुध कहें जग सत्य जिह॥

ज्ञानी और अज्ञानी जब तक संसार में रहेंगे संसारी सभी काम समान भाव से ही करेंगे। अन्तर इतना ही है, कि अज्ञानी इन सभी दृश्य पदार्थों को सत्य मानकर उनकी प्राप्ति अप्राप्ति में

---

१ भगवान् को स्तुति करती हुईं श्रुतियाँ कह रही हैं—यह दृश्य जगत् सृष्टि से पूर्व नहीं था और न सृष्टि के अनंतर ही रहेगा। जो वस्तु आदि

सुखी दुखी होता है। इन्हें अधिकाधिक मात्रा में संग्रह करना चाहता है। इनके नष्ट होने पर अपने आप को भी नष्ट हुआ अनुभव करता है। ज्ञानी इन सब पदार्थों को मिथ्या मान कर इन में से किसी में भी आसक्त नहीं होता। सब को भगवान् का ही रूप समझ कर सदा मग्न बना रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुईं श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जब यह दृश्य प्रपञ्च नहीं था, प्रकृति पुरुष के संयोग से रची यह सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब इस जगत् का अस्तित्व नहीं था। जब यह सृष्टि अपने अपने कारणों में विलीन हो जायगी, भगवान् रुद्रदेव अपने तृतीय नेत्र से चराचर का संहार कर देंगे, उस समय प्रलय के अनन्तर भी यह जगत नहीं रहेगा। जो वस्तु आदि में ,नहीं है, अन्त में भी जो नहीं रहती, वह भला मध्य में कैसे हो सकती है, इसीलिये ऋषियों ने वेदों में इसका द्रव्य जाति और विकल्प की समानता से निरूपण किया है। जैसे पृथ्वी द्रव्य है। उसका एक गोल मोल आकार बन गया उसे लोग घड़ा कहने लगे। उस घड़े की आकृति से पूर्व घड़ा नहीं था, मिट्टी ही थी। घड़ा फूट जायगा तब भी घड़ा नहीं रहेगा मिट्टी ही रहेगी। जब आदि में भी मिट्टी अन्त में भी मिट्टी तब बीच में जो मिथ्या कार्य घड़ा भासता है, वह भी वास्तव में कुछ नहीं है, वह भी केवल मिट्टी ही मिट्टी है। कुंडल बनने के पूर्व भी सोना ही था। जब कुंडल को गला दिया

अंत में नहीं होती, वह मध्य में भी नहीं हो सकती। अतः यह जगत आप एकरस परब्रह्ममें मिथ्या ही भास रहा है। इसी कारण द्रव्य जाति और उसके विकल्प के रूप में इसका वेदों में वर्णन किया है। यह मनोविलास मात्र है, अबुध ही इसे सत्य बताते हैं, ज्ञानी नहीं।

उसका रूपान्तर कर दिया, फिर भी सोना का सोना ही रह गया तो बीच में जिसे कुंडल कहने लगे थे, वह कुंडल मिथ्या है। वास्तव में वह बीच में भी सोना ही है। कुंडल में सुवर्ण के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं। सत्य सुवर्ण में असत्य कुंडल का आभासमात्र होने लगा है, सो भी अन्धपरम्परा से भ्रमवश। इसी प्रकार सत्य तो आप ही परात्पर प्रभु हैं। आप में कभी क्षय नहीं, वृद्धि नहीं, आप सदा सर्वदा सर्वकाल में एकरस रहते हैं। आप एकरस सत्यस्वरूप परब्रह्म में इस जगत् की मिथ्या प्रतीति हो रही है। जैसे घड़े में देखा जाय कि मृत्तिका के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, उसी प्रकार इस जगत् के अणु परमाणु को ध्यान से वैशारदी बुद्धि द्वारा निहारा जाय, तो इसमें आप के अतिरिक्त जगत् नाम की कोई वस्तु ही न मिलेगी।

स्वामिन्! इस पर कोई कोई आचार्य कहते हैं जगत् तो है ही। प्रलय के अनन्तर उसका अदर्शन हो जाता है। जैसे कोई दीपक है उसे किसी वस्तु से ढक दिया वह दीखता नहीं उसका लोप हो गया। इससे उसका न होना तो सिद्ध नहीं हुआ। जब तक नहीं दीखता तब तक उसका लोप है, जब प्रकट हो गया तो दिखाई देने लगा। अभाव तो उसे कहते हैं जो कभी देखे ही नहीं। गधे के सींग कभी नहीं होते। आकाश में पुष्प कभी नहीं खिलते, वन्ध्या का पुत्र कभी नहीं होता, काष्ठ की गौ कभी दूध नहीं देती। इन वस्तुओं को सुनने से सहसा अस्तित्व प्रतीत होता है किन्तु ध्यानपूर्वक देखा, जाय तो ये

वस्तुयें न कभी पैदा हुई हैं न कभी दिखाई ही देती हैं, फिर इनके नाश होने का प्रश्न ही नहीं। इसी प्रकार यह जगत् न कभी हुआ, न है, न कभी होगा। केवल श्रवण ही मात्र है। कोई कहते हैं नहीं यह जगत् मिथ्या नहीं सत्य ही है, नित्य ही है। इस प्रकार इस मनोविलास रूप जगत् के विषय में अनेक लोग अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं। ये सभी कल्पनायें अविवेक से ही होती हैं। अबुध जन ही इसके विषयमें इद मित्थं कह कर झगड़ते हैं। वास्तव में एक मात्र सत्यस्वरूप एकरस तो आप ही सच्चिदानन्द हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसके अनन्तर अन्य श्रुतियों का समूह भगवान् की स्तुति करने लगा। श्रुतियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—"स्वामिन ! यह जीव जब आप की गुणमयी मोहिनी माया से ममता वश मोहित होता है, तब यह आपका आश्रय तो छोड़ देता है, इसे आश्रय देती है माया की बहिन अविद्या। अविद्या का आश्रय लेते ही इसके आनन्दादि समस्त गुण ढक जाते हैं। फिर माया के जो कार्य हैं देह इन्द्रियों का सेवन उसे करता है, नाना ऊँच नीच शरीरों को धारण करता है। कभी देवता बन जाता है। कभी मनुष्य हो जाता है कभी, कीट पतंग पशु पक्षी तथा वृक्षादि देह धारण करके इधर से उधर भ्रमण करता रहता है। संसार के विषयों का सेवन करता है, तद्रूप धारण करता है। जिस योनि में जाता है, उसी में अपने को वैसा ही अनुभव करने लगता है। वह देह को ही सब कुछ समझता है, देह में ही उसकी अहंता ममता हो जाती है। देह को ही आत्मा समझने लगता है। समस्त देह नाशवान् है अतः देह संसर्ग से मृत्यु को प्राप्त होता है। जो मरता है उसका जन्म होता है, इस न्याय से फिर जन्म

लेता है । जन्म लेने वाले की मृत्यु अवश्यम्भावी है, इसलिये जन्म लेकर फिर मरता है। फिर जन्म लेता है। इस भाँति वह चौरासी के चक्कर में घूमता रहता है। इस अजन्मा की जो ऐश्वर्यादि स्वाभाविक ज्ञान शक्ति थी, वह नष्ट हो जाती है कर्म फल रूपी फल चखने से यह जन्ममरण के चक्कर में फँस जाता है,किंतु आप तो भगवन्! मायाके समीप रहते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते, उससे सदा निर्लेप ही बने रहते हैं। जीव के साथ एक ही वृक्ष पर बैठे रहने पर भी आप उसके फलों का भक्षण नहीं करते। उनसे उदासीन ही बने रहते हैं। जैसे सर्प अपनी केंचुली को छोड़कर उससे सर्वथा उदासीन हो जाता है उसी प्रकार आप नित्य प्राप्त परम ऐश्वर्य में स्थित रहकर माया से निर्लिप्त ही बने रहते हैं । आप ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य वीर्य, तेज रूप जो नित्य ऐश्वर्य हैं, उनको नित्य स्वीकार करके अपने सच्चिदानंद स्वरूप में स्थित रहते हैं तथा अष्ट विभूति युक्त महिमा में नित्य निरन्तर अवस्थित रहते हैं । आपको पाप स्पर्श नहीं कर सकते। जरा आपके समीप फटकने नहीं पाती, मृत्यु आपको देखकर थर-थर काँपती है, वह आपकी ओर आँख उठाकर देखने की कल्पना भी नहीं कर सकती। शोक आपकी परछाईं का भी स्पर्श नहीं कर सकता । आपको फल खाने की इच्छा तक नहीं होती। जो नित्य तृप्त है उसे कुछ खाने की अभिलाषा ही क्यों होने लगी। आप सदा आनंदरस पान करके आनंद स्वरूप बने रहते हैं, इससे अन्य किसी भी पानीय पदार्थ के पीने की वांछा आप को नहीं होती। आपकी समस्त कामनायें सत्य ही होती हैं, असत्य की तो वहाँ तक पहुँच ही नहीं। इसीलिये आप सत्य काम कहलाते हैं । आपके समस्त संकल्प सत्य होते हैं, संकल्प होते ही वह उसी क्षण सम्पन्न हो जाता है, अतः

आप सत्य संकल्प कहे जाते हैं। गुण षडैश्वर्य, अष्टगुण तथा अष्टविभूति सम्पन्न स्वतः प्रकाशमान होकर सबके द्वारा पूजित होते हैं, आपके लिये न कुछ बन्ध है न मोक्ष और नित्य निर्द्वंद्व निरीह निरामय हैं। आप सर्वात्मा सर्वाधार निखिलगुण गणार्णव के पादपद्मों में कोटिशः प्रणाम है।

छप्पय

माया मोहित जीव अविद्या आश्रय सेवै।
सद्गुन होहिं विलीन देह मन इन्द्रिय सेवै ॥
नाना योनिनि भ्रमै ऊँच अरु नीच कहावै।
पुनि पुनि होवै जन्म मरन दुख सतत उठावै ॥
आयु अखिल ऐश्वर्य युत, अष्ट भूति महिमा भजै।
स्वतः प्रकाश स्वरूप अहि, कैंयुत बत माया तजै ॥

पद

जगतकूँ मूरख सत्य बतावैं।
आदि अंत जो नहिं होवै सो, बीच कहाँतें आवैं ॥१॥
कुंडल कनक मृत्तिका घट वत, कहि कहि बुध समुझावैं।
मनोविलास समान स्वकल्पित, समुझैं भ्रम नसि जावैं ॥२॥
परवश जीव अविद्या आश्रय, बहु योनिनि भरमावैं।
जनमें मरें बहुत दुख झेलैं, माया अंत न पावैं ॥३॥
आयु अनंत अखिल ऐश्वरयुत, माया दूरि भगावैं।
अष्ट विभूति युक्त महिमा प्रभु, रहि के सुख सरसावैं ॥४॥

वेद-स्तुति (१४)

(१३३)

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृतकण्ठमणिः।
असुतृप योगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्
ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

जब तक यति परिव्राज काम हियतैं न हटावैं।
तब तक उरगत माल सरिस तुमकूँ नहिँ पावैं॥
प्राननि कूँ जे पोसि पालि निज देह बढ़ावैं।
उभय लोक में अबुध सतत ते दुःख उठावैं॥
जायँ काल के गाल में, दुखी रहैं इहलोक में।
अनधिरूढ़ पद भये तैं, दुःख सहैं परलोक में॥

भगवान् कुछ दूर नहीं, उन्हें पाने के लिये भी किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता नहीं। जैसे आवश्यकता से अधिक खाने से मिथ्या आहार विहार से ज्वर आ गया। अस्वस्थ हो गये,

---

१ भगवान् की स्तुति करती हुईं श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन्! जैसे किसी के कण्ठ में ही मणि पड़ी हुई है, किन्तु वह उसे भूल गया है, तो

तो स्वस्थता कहीं बाहर से लानी न पड़ेगी। ज्वर भी कहीं बाहर से नहीं आया, भीतर का मल ही आमाशय में आकर विकृत हो गया, उसी से शरीर अस्वस्थ हो गया। आप मल को युक्ति से बाहर निकाल फेंकिये। दोष पचे नहीं तब तक भोजन न कीजिये। जठराग्नि दोषों को पचा डालेगी, दोषों के पचते ही नाश होते ही तुम स्वस्थ हो जाओगे। भूख लगेगी गहरी नींद आवेगी यही तो स्वास्थ के लक्षण हैं। तुम चाहो बिना दोषों के निकाले, उन्हें पेट में ही भरे रहें और फिर स्वास्थ्य लाभ कर सकें तो यह असंभव है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन्! इन विषयोंकेभोगकी छिपी हुई वासना ही जीव को भव बन्धन में डालती है। वासना के वशीभूत हो कर जीव चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाता रहता है। जीव का परम पुरुषार्थ इतना ही है कि इस वासना के बीज को समूल उखाड़ कर फेंक दे। यदि यत्नशील योगयुक्त बनकर सावधानी के साथ इस विषय वासना रूप विषवृक्ष का मूलोच्छेदन नहीं करता, तो इसका भव बन्धन नहीं कट सकता। आप के पद की प्राप्ति इसे नहीं हो सकती। आप कहीं दूर हों सोभी बात नहीं। आप समस्त चराचर प्राणधारियों के हृदय प्रदेश में अत्यंत ही निकट समीप से भी समीप विराजमान हैं, किन्तु सींक की

जब तक उसे स्मृति न हो-ज्ञान हो-तब तक वह दुखी हो रहेगा, उसे प्राप्त न होगी। उसी प्रकार यत्नशील योगी न बन कर निज हृदयस्थ काम की मूल वासना को जो दूर नहीं करते, उन असत पुरुषों को आपकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। उन प्राणपोषक कुयोगियों को लोक परलोक दोनों ही स्थानों में दुःख प्राप्त होता है। इस लोक में तो मृत्यु से परलोक में अस्वरूप विद् होने से आप से।

ओट पहाड़ है। विषय वासना रूप अंधकार के कारण आप दिखायी नहीं देते। माया के परदे के कारण आप अति सन्निकट होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते। जैसे किसी के कंठ में मणियों की माला पड़ी है। भ्रमवश या मदोन्मत्त होने के कारण वह कंठगत माला को भूल गया। अब वह सोचता है मेरी मणिमाला कहाँ चली गयी। वह स्वयं अपने कण्ठ में सिर झुका कर तो देखता नहीं। अपने आपमें ही तो अन्वेषण करता नहीं बाहर इधर उधर विह्वल बना माला की खोज करता हुआ भटकता रहता है। यदि उसे विवेक हो या कोई विवेकी आकर हाथ में लेकर कंठ में पड़ी माला को दिखा दे, तब उसे बोध होगा, "अरे, मैं व्यर्थ इधर उधर बाहर भटकता फिरा। मणि तो मेरे ही कंठ में पड़ी है। हृदय प्रदेश में विराज मान है। "किन्तु जो प्रयत्नशील नहीं हैं अथवा प्रयत्न भी करते हैं तो माया को बढ़ाने के लिये। लोगों को उपदेश तो देंगे त्याग वैराग्य का, उनकी वक्तृता को सुन कर साधारण भोले भाले लोग तो उन्हें महान त्यागी विरागी समझेंगे, किन्तु उनकी वक्तृता का, उनके संगठन का एक मात्र उद्देश्य है अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना, पैसा बटोरना, भोले भाले लोगों को बहका कर उनसे विषयोपभोग की सामग्री को एकत्रित करना। ऐसे कुयोगियों के भी हृदय में आप सुखस्वरूप विराजमान तो हैं, किन्तु उन्हें आप परमानंद स्वरूप प्रभु के अस्तित्व से सुख नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत इस लोक में तथा परलोक में दुःख ही दुःख प्राप्त होता है।

इस लोक में तो उन्हें सदा दुर्निवार काल का भय बना रहता है। सदा मृत्यु की आशङ्का घेरे रहती है। इस मृत्यु रूपी सर्पिणी से बचने के ही लिये दिन रात्रि प्रयत्न करता रहता है। चिकित्सकों के पास जाता है कि मेरे रोगों को निकाल दो, जिससे रोग ग्रस्त होकर मैं मर न जाऊँ। ज्योतिषी, ओझाओं के पास जाता है, देखो मेरा मारकयोग तो नहीं। कोई ग्रह तो अत्यंत दुखदायी नहीं। कुछ ग्रहों की शांति कर दो। गंडा तावीज झाड़ फूंक कर दो, जिससे मृत्यु मुझे न धर दबावे। खाता है तो मृत्यु से बचने के लिये पीता है, तो सदा जीने के लिये। जहाँ मृत्यु की आशंका होती है वहाँ जाता नहीं। इस प्रकार उसे आठों प्रहर इस लोक में मृत्यु की ही शंका बनी रहती है। सदा सभी कामों में साव-धानी बरतता है। कितनी भी सावधानी बरते एक दिन मृत्यु तो आ ही जाती है। जिसकी शंका से जीवन भर चिंतित दुखी और विह्वल बना रहा। जहाँ चिन्ता है वहाँ सुख कहाँ, इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन को दुखमय बिताता है। प्रतिक्षण चौकन्ना रहता है, फिर भी एक दिन मृत्यु आ ही जाती है। उसकी इच्छा न रहने पर भी उसे धर दबाती है। उसकी इहलौकिक लीला समाप्त कर देती है। अब वह परलोकवासी बन जाता है। इस लोक में यदि मृत्यु को भय देने वाले आप अजरामर का चिंतन ध्यान किया होता, तो वह मृत्यु के सिर पर पैर रख कर आपके परमा-नन्द स्वरूप सुखधाम को प्राप्त हो जाता, वह सब तो इसने किया नहीं। परलोक में भी इसे आपके यम स्वरूप का सामना

करना पड़ता है। इससे मर्त्यलोक में किये कर्मों का लेखा माँगा जाता है। पाप पुण्यों का व्योरा बताया जाता है, वहाँ भी इसे दुःख ही उठाना पड़ता है। यदि इसने पाप किये हैं, तो नरक की भयंकर यातनायें भोगनी पड़ती हैं। यदि पुण्य किये हैं तो स्वर्ग में सातिशय दोषों के कारण पतन की चिन्ता से चिन्तित होकर दुखी बना रहता है। सारांश यह है कि इसे न इस लोक में सुख होता है न परलोक में। स्वरूप ज्ञान न होने से यह जहाँ जहाँ भी जाता है, वहाँ वहाँ ही इसे दुःखों का चिन्ताओं का, सामना करना पड़ता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार जब स्तुति करके श्रुतियों का यह समूह निवृत्त हो गया, तो अन्य श्रुतियाँ आकर भगवान् की स्तुति करने लगीं। स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जो कुयोगी नहीं हैं यथार्थ योगी हैं। नाम मात्र के लिङ्गधारी सन्यासी नहीं हैं,यथार्थ त्यागी विरागी हैं,जिनकी समस्त चेष्टायें आप षडैश्वर्य सम्पन्न सर्वात्मा की प्राप्ति के ही निमित्त हैं ये आपके स्वरूप से परिचित पुरुष आप कर्म फलदाता ईश्वर से उत्पन्न न पुण्य के फल को भोगता है न पाप के। वह तो पुण्य पाप कुछ करता ही नहीं। वह तो एकमात्र निरहङ्कार होकर आपकी ही सेवा में संलग्न रहता है। वह जो भी कर्म करता है तुरन्त आपको अर्पण कर देता है। जिसे जो वस्तु अर्पित की जाती है उसका फल भोक्ता अर्पित वस्तु को ग्रहण करनेवाला ही होता है। क्योंकि उसके लिए न कुछ विहित है न अविहित। न कुछ विधि

है न निषेध । वह तो एक ही काम करता है । सनातन परम्परा से चली आई हुई जो आपकी श्रुतमधुर कथायें हैं उन्हें निरन्तर सुनता रहता है । उन ललित कथाओं से अपने श्रवणपुटों को भरता रहता है । जो निरन्तर कानों से आपकी ही कथा सुनेगा, उसका अन्तःकरण निर्मल पवित्र हो जायगा । आप उसके कर्ण-रन्ध्रोंके द्वारा घुसकर उसके हृदयमें प्रवेशकर जायँगे । उसके हृदयके अन्धकार को दूर करके प्रकाशित कर देंगे, फिर मृत्यु उसकी ओर आँख उठाकर देख भी न सकेगी । चिन्ता उसके पास फटकने न आवेगी । जब तक इस लोक में रहेगा निर्द्वन्द होकर आपकी कथा सुधा का उल्लास और आनन्द के साथ पान करता रहेगा । उसके सुख का अनुभव करके परमानन्द में निमग्न रहेगा । जब इस पाँच भौतिक शरीर को छोड़ देगा तो अपवर्ग सुख का आस्वादन करेगा, आपके दिव्यानन्द लोक में मोक्ष सुख की अनुभूति करेगा । क्योंकि उसकी एकमात्र गति तो आप ही मोक्षके अधिपति हैं । वह आपके अतिरिक्त किसीको मानता ही नहीं । मानता ही नहीं जानता ही नहीं । आपका यन्त्र बनकर वह रहता है, आप उसे जैसे घुमाते हैं वैसे घूमता है, आप जैसे चलाते हैं चलता है, आप जहाँ बिठाते हैं वहाँ बैठता है । उसकी गति मति सब आपही हैं । जिस प्रकार कुयोगी इस लोक परलोक दोनों लोकों में दुःख ही दुःख उठाते हैं, उसी प्रकार यथार्थ योगी इस लोग में और परलोक में भी निरतिशय सुख ही सुख उठाते हैं ।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रकार स्तुति करके श्रुतियाँ विराम को प्राप्त हो गयीं । इसके अनन्तर जैसे श्रुतियों का अन्तिम यूथ आया उन्होंने जैसे भगवान् की स्तुति की,उस कथा प्रसंग को मैं आपको सुनाऊँगा । आप सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें ।

छप्पय

जे हैं साँचे भक्त सुयोगी यति विज्ञानी।
विधि निषेध तें रहित करम फल नहिँ अभिमानी॥
अहङ्कार कूँ त्यागि करें नित तुमरी पूजा।
सब में प्रभु को रूप लखें समुझें नहिँ दूजा॥
ललित कथा तुमरी सतत, सुनें श्रवनपुट नित भरें।
कथा सुधा अरु मोक्ष गति, उभयलोक सुखमय करें॥

पद

कुयोगी उभयलोक दुख पावें।
दुःख स्वरूपा काम वासना, हियतेँ नहीं भगावें॥ १॥
हो समीप हिय माहिँ विराजो, भ्रमवश इत उत धावें।
जैसे परी कंठ में माला, खोजन बाहर जावें॥ २॥
मर्त्यलोक में डरें मृत्यु तें, चिंतित आयु गँवावें।
मरि कें यमकी सहें यातना, दोऊ लोक नसावें॥ ३॥
तुम्हरे भक्त योगयुत ह्वै कें, सुख दुख नहिँ लपटावें।
विधि निषेध तें रहित सदाई, पुन्य पाप नसि जावें॥ ४॥
कथा सुनें जब तक जग जीवें, परमानँद पद पावें।
देह त्यागि प्रभु लोक पधारें, चरन शरन जे आवें॥ ५॥

——::o::——

वेद स्तुति (१४)

(१३४)

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ ❀
(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

स्वरगअधिप अज इन्द्र देव तव पार न पावैं ।
औरनि की का कथा स्वयं चाहें नहिं गावैं ॥
ज्यौं रजकन आकाश माहिँ उड़ि वायु संगतें ।
त्यौं अगनित ब्रह्माण्ड भ्रमैं तव प्रगटि अंग तैं ॥
थूल सूक्ष्म जग वस्तु को, करि निषेध श्रुति जिहि कहैं ।
नेति नेति कहि अंत में, होहिँ सफल प्रभु पद लहैं ॥

जो अनन्त है जिसका कहीं अन्त ही नहीं। उसके लिये यह कैसे कहा जा सकता है, कि वह इतने ही तक है। उसका ऐसा ही स्वरूप हो सकता है। वह निर्गुण है; कभी सगुण हो ही नहीं सकता। उसमें इतने ही गुण हैं, इन गुणों के अतिरिक्त उसमें

❀ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन् ! आप अनन्त हैं अतः इन्द्रादि देव भी आपका अन्त नहीं जानते। अन्यों की

अन्य गुण नहीं। उसकी ये ही विभूति हैं, वह इतने ही अवतार धारण करता है। ऐसा कहकर उसकी अनन्तता का खंडन किया जाता है। भवन के भीतर जितना आकाश है उतना ही आकाश है या एक घड़े के भीतर जितनी वायु है उतनी ही वायु है, यह कहना जिस प्रकार मिथ्या है उसी प्रकार भगवान् के सम्बन्ध में यह कहना कि वे ऐसे ही हैं, इतने ही हैं, यही कर सकते हैं, उनको सर्वव्यापक से हटाकर 'परिछिन्न करना है। भगवान् की महिमा की उनके ऐश्वर्य माधुर्यादि की कोई सीमा नहीं। वे इतने अनन्त हैं कि स्वयं भी वे अपना आदि अन्त नहीं जानते। आदि अन्त हो तब तो जानें, वे तो अनादि, अनन्त, अपरिछिन्न तथा अप्रमेय हैं। श्रुतियाँ भी उनको अन्वय व्यतिरेक से ही बताती हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब पहिली श्रुतियाँ स्तुतिकरके विराम को प्राप्त हुईं, तब अन्य श्रुतियाँ आकर भगवान् की स्तुति करने लगीं। श्रुतियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कह रही हैं—"भगवन्! आप अनन्त हैं, अतः तीनों लोकों के अधिपति स्वर्गाधिप अमरेश इन्द्र भी आपका अन्त नहीं पा सकते। इन्द्र को छोड़ दीजिये इस निखिल ब्रह्माण्ड के अधिपति, चतुर्दश भुवनों के अधीश्वर कमलासन भगवान् ब्रह्मा भी आपकी महिमा का पार नहीं पा सकते। त्रिपुरारी भगवान् रुद्र भी आपके सम्बन्ध में यह नहीं कह सकते कि आप ऐसे ही हैं, इतने ही हैं। इतने भारी भारी

बात क्या? आप स्वयं भी अपना अन्त नहीं जानते। जैसे आकाश में वायु के द्वारा असंख्य रजकण उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार कालचक्र के द्वारा घुमा वरणों के सहित निखिल ब्रह्माण्ड समूह आपमें साथ ही घूमते रहते हैं। और श्रुतियाँ भी अनात्म पदार्थों को नहीं कहकर अन्त में आपमें ही पर्यवसित होती हैं। यही उनकी सफलता है।

देवगण, भुवनेश्वर तथा लोकपाल भी जब आपका पार नहीं पा सकते, तब ये बापुरे अल्पज्ञ मनुष्य तो आपकी महिमा का भला पार पा ही कैसे सकते हैं। आपके गुण अनन्त हैं, आपकी लीला अनंत हैं, आपकी महिमा अनन्त है तथा आपकी विभूति अनन्त हैं इसी लिये अन्यों की बात तो छोड़ दीजिये, स्वयं आप जो सर्वज्ञ; सर्वाधिकार, सर्वान्तर्यामी, सर्व समर्थ, सर्व व्यापक, सर्वेश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी अपनी महिमा का पार नहीं पा सकते। आपके स्वरूपकी बात तो छोड़दे आपकी विभूति ही इतनी अनन्त है कि उसी का पार पाना असम्भव है। इस पृथिवीमंडल का विस्तार भूगोलवेत्ताओं ने ५० करोड़ योजन बताया है। इससे दशगुणा जल का आवरण है, जल से दशगुणा तेज का आवरण है, इससे दशगुणा वायु का आवरण है, वायु से दशगुणा आकाश का आवरण है, आकाश से दशगुणा अहंतत्व का आवरण है और अहंतत्व से दशगुणा महत्तत्व का आवरण है। इस प्रकार इस सप्तावरण संयुक्त को ब्रह्माण्ड कहते हैं। ऐसे असंख्यों ब्रह्मांड आपके एक रोमकूप में उसी प्रकार फैल फूटकर विचरण करते रहते हैं, जैसे आकाश में असंख्यों रजकण असंख्यों पक्षी वायु की सहायता से उड़ते रहते हैं। उनमें परस्पर संघर्ष नहीं-लड़ाई नहीं-सभी स्वेच्छा से विचरण करते हैं। जब एक रोम कूप में असंख्य अनन्त ब्रह्माण्ड घूमते हैं,तो आप अनन्त के कितने रोमकूप होंगे, उनमें कितने अनन्त ब्रह्माण्ड निवास कर रहे होंगे, कोई कह सकता है ? ।

हे अनन्त विभूतियुक्त भगवन्! इसीलिये तो हम समस्त श्रुतियाँ आपके सम्बन्ध में सीधे स्पष्ट नहीं कहतीं। कहे भी तो कैसे कहें। पहिले हम पृथिवी को देखती हैं, तो कहती हैं आप यह नहीं हैं। पर्वत, वृक्ष, चर, अचर सभी पदार्थों को देखकर कहती

हैं, यह नहीं हैं। इस प्रकार जहाँ तक कह सकती हैं नेति नेति कहती हैं। जहाँ कथन नहीं बनता वहाँ मौन हो जाती हैं। मौन हो जाना ही अन्त में निर्वचन है। हम सब आपमें ही पर्यवसान पानेवाली हैं। इसीलिये नेति नेति कहकर आपमें पर्यवसित हो जाती हैं, यही हमारी सफलता है, यही हमारी कृतार्थता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार समस्त श्रुतियाँ सर्वेश्वर परमात्मा की स्तुति करके मौन हो गयीं। इधर देवर्षि नारद जी से बदरीवन में भगवान नारायण कह रहे हैं—"सो, नारद जी इस प्रकार सनकादि महर्षियों ने ब्रह्मलोक में जो ज्ञान सत्र रचा था, उसमें आत्मतत्व रूप यह वेद स्तुति का सम्वाद हुआ था। उसमें सनक, सनदन, सनातन तथा अन्यान्य ऋषि महर्षि श्रोता थे, सनत्कुमार वक्ता के आसन पर बैठे थे। इस तत्वज्ञान के श्रवण के अनन्तर सनकादि महर्षियों ने वक्तारूप में कथन करनेवाले ज्ञानदाता अपने भाई सनत्कुमार का श्रद्धा भक्ति सहित पूजन किया, फिर वे इच्छापूर्वक विचरण करते हुए अन्य लोकों में चले गये।

भगवान् नारायण नारद जी से कह रहे हैं—"सो नारद जी! वेद पुराण और उपनिषदों का सारभूत यह वेदस्तुति का महान ज्ञान उन चारों ब्रह्मकुमारों ने वेद शास्त्र रूपी समुद्र को मथकर नवनीत के रूप में इसे निकाला था। उन सनकादि महर्षियों को तो अज्ञान होना ही क्या था। वे तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, माया का उन्होंने स्पर्श ही नहीं किया था। माया तो उनसे पीछे उत्पन्न हुई। वे सदा आकाश में विचरण करते हैं सदा पाँच ही वर्ष के बालक बने रहते हैं। लोक कल्याणार्थ ही उन्होंने यह ब्रह्मसत्र रचा था। सो देवर्षे ! तुम भी इस आत्मतत्व के उपदेश को धारण करो। ब्रह्मपुत्र ! जैसे तुम्हारे भाई सनकादि स्वच्छन्द

होकर सभी भुवनों में विचरण करते हैं, वैसे तुम भी समस्त मानव वासनाओं का नाश करनेवाले इस अद्भुत ज्ञान को प्राप्त करके जहाँ चाहो तहाँ प्रेमपूर्वक घूमो फिरो। इसके धारण करने से तुम्हें किसी प्रकार की न चिन्ता रहेगी, न शोक मोह ही।

श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—सो राजन्! जब भगवान् नर नारायण ने वीणापाणि देवर्षि नारद जी को इस प्रकार उपदेश दिया—वेदस्तुति सुनाई तो उसे सुनकर नारद जी परम प्रमुदित हुए उनके रोम रोम खिल उठे। उन्होंने बड़ी ही श्रद्धा भक्ति सहित इस तत्वज्ञान को धारण किया। नारद जी को धारण ही क्या करना था, वे तो स्वतः ही पूर्ण ज्ञानी थे। उन्हें कभी कोई कामना होती ही नहीं है भगवत् भजन के प्रभाव से वे आप्तकाम बन गये हैं। उनकी मेधाशक्ति धारणाशक्ति अद्भुत है विलक्षण है। अपने पिता ब्रह्मा जी से या भगवान् नारायण से जो भी श्रवण कर लेते हैं उसे तुरन्त धारण कर लेते हैं। वे विवाहादि के चक्कर में कभी पड़े ही नहीं। ये तो ऊर्ध्वरेता हैं, नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। भगवान से तत्व ज्ञान श्रवण करके नारद जी कृतार्थ हो गये। भगवान् के प्रति कैसे कृतज्ञता प्रकट करें, गुरुदक्षिणा रूप में उन्हें क्या अर्पण करें। भगवान् के देने योग्य वस्तु और है ही क्या। केवल कृतज्ञता भार से नत होकर उनके लिये श्रद्धा भक्ति से प्रणाम ही की जा सकती है। उसे ही गुरुदक्षिणा या जो भी कुछ समझें समझ लें। अतः भगवान् के पादपद्मों में प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हुए नारद जी बोले—"प्रभो! आपके अवतार का एकमात्र प्रयोजन यही है कि आप प्राणीमात्र का कल्याण चाहते हैं। आप इन संसारी बन्धनों में बँधे प्राणियों को मुक्तिमार्ग दिखाने के लिये उन्हें भवबन्धन से छुड़ाने के लिये, अपना सत्‌रूप दिखाने के लिये अपनी कलाओं

तथा अंशों के सहित अवनि पर अवतीर्ण होकर उन्हें ज्ञान की शिक्षा देते हैं। ऐसे आप पवित्रकीर्ति शरणागतवत्सल प्रभु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम हैं। आप प्राणियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं इससे कृष्ण कहाते हैं, ऐसे आप नारायण रूप कृष्ण के चरण कमलों में बार बार नमस्कार है।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! इस प्रकार नारदजी भगवान् नारायण से ज्ञान प्राप्त करके भगवान् को प्रणाम करके चलने लगे। उन्हें नूतन स्फूर्ति प्राप्त हो गयी थी, गुह्य ज्ञान प्राप्त होने से उनके रोम रोम से उल्लास निकल रहा था। किसी को कोई बहुमूल्य अत्यंत सरस स्वादिष्ट वस्तु प्राप्त होती है, तो उसकी इच्छा होती है। इसे सर्वप्रथम अपने सुयोग्य शिष्य भक्त या पुत्र को दूँ। अपने अत्यंत प्यारे शिष्य को वस्तु देने में जितनी प्रसन्नता होती है उतनी स्वयं अपने उपभोग से नहीं होती। अतः नारद जी ने सोचा—मेरे प्रिय शिष्य वेदव्यास जी भी तो यहीं कहीं समीप की ही गुफा में रहते हैं। क्यों नहीं अभी चलकर इस हाल के प्राप्त टटका ज्ञान को उन्हें दूं। इतना सोचते ही नारद जी ने तुरन्त अपनी वीणा उठाई और लम्बे २ डग भरते हुए शीघ्रता से मेरे पिता भगवान् वेदव्यास जी के आश्रम पर पहुँच गये। भगवान् नारद को आते देखकर मेरे पिता भगवान् कृष्णद्वैपायन संभ्रम के साथ उठकर खड़े हो गये। आसन देकर नारद जी की विधिवत् पूजा की। नारद जी ने कहा—अरे भैया! व्यास! पूजा फूजा पीछे हो जायगी, लो मैं भगवान् नारायण से कैसा विलक्षण तत्व ज्ञान लेकर आया हूँ, इसे तुम धारण करो।

अपने ऊपर नारद जी की इतनी कृपा देखकर कृतज्ञता के भार से लज्जित और नत हुए मेरे पिता जी ने वह ज्ञान नारद जी

से श्रद्धा सहित धारण किया। फिर पिता जी से यह ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ। सो राजन्! आपने पूछा था कि जो गुण रहित है जिसका वाणी द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता, उन ब्रह्म की श्रुतियों ने साक्षात् स्तुति कैसे की ? कैसे उनका निरूपण किया श्रुतियों की वहाँ तक पहुँच कैसे हुई।" उसी का वर्णन मैंने यह नारद नारायण सम्वादरूप में कहा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर मेरे गुरुदेव ने भगवान् की पुनः स्तुति की। भगवान् शुक ने दोनों करकमलों को सम्पुटित करके श्रद्धा सहित अञ्जलि बाँधकर अस्फुट वाणी से भगवान् की स्तुति करते हुए कहा—जो प्रभु सर्वाधीश्वर हैं। इस जगत् के एकमात्र कारण हैं। जिनके संकल्पमात्र से केवल उत्प्रेक्षा करने से इस सृष्टि की उत्पत्ति हो जाती है, फिर संकल्पमात्र से ही अगणित उत्पन्न हुई सृष्टि का कल्पान्त पर्यन्त पालन होता रहता है, फिर संकल्पमात्र से ही क्षण भर में यह असंख्य प्रकार की सृष्टि विलीन हो जाती है। जो पुरुषोत्तम हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों के नियामक हैं, स्वामी हैं ईश्वर हैं। जिन्होंने संकल्प से ही इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की है और उत्पन्न करके जीव के सहित आत्मरूप में इसमें प्रवेश भी कर गये हैं। जिससे अंडज-पिंडज स्वेदज और उद्भिज भिन्न भिन्न शरीरों की ब्रह्मा रूप से रचना करते हैं। विष्णु रूप रखकर जो सबका पालन करते हैं। माया से मोहित हुए स्वप्नालोक में भटकते हुए दुःख सुखों का भोग करते हुए जीवों के जो एक मात्र आश्रय हैं। जिस प्रकार प्रगाढ़ निद्रा में पड़ा हुआ पुरुष शरीर के सभी सुख दुःखों को भूलकर परमानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार जीव जिन्हें पाकर मुक्ति सुख का अनुभव करता है, संसार बन्धनों से छूट जाता है। मैं उन्हीं नित्य अखण्डरूप में

स्थित रहनेवाले, सम्पूर्ण जगत् के मूल कारण, उन मायापति और माया को निरस्त करनेवाले अभयरूप श्री हरि के पाद पद्मों में प्रणाम करता हूँ। प्राणिमात्र को उन्हीं चिन्तनीय चितचोर का निरन्तर चिन्तन करना चाहिये।

छप्पय

नारायन ने नारद मुनि सन कह्यो ज्ञान वर।
नारद जी ने तुरत व्यास कूँ सिखयो सुखकर॥
व्यासदेव ने सुत शुक कूँ जिह ज्ञान सिखायो।
नृपति परीक्षित सत्र माहिँ तिनि तैं हीं पायो॥
थिति पालन संहार के, कारन शोभाधाम हैं।
मायाधिप कैवल्यपति, प्रभु पद पदुम प्रनाम है॥

पद

स्वरगपति प्रभु को पार न पावैं।
वेद भेद सब विधि नहिँ जानें, नेति नेति कहि गावैं॥ १॥
रजकन विहँग गगन में विहरैं, नहिँ संकोच लखावैं।
त्यों अगनित ब्रह्मांड रोम में, फैलि फूटि सुख पावैं॥ २॥
स्वाँस स्वाँस तैं श्रुति सब निकसीं, प्रभु कूँ विनय सुनावैं।
तुम में ही मिलि सुख सरसावैं, जीवन सफल बनावैं॥ ३॥

—:o:—

वेद स्तुतिः

श्रुतय ऊचुः

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां,
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते,
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१॥
बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया,
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं,
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥२॥
इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल,
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकाल गुणाः,
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥३॥
दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा,
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः,
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥४॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः,
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं,
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥५॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया,
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं,
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥६॥

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं,
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं,
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवंभुवि विश्वसिताः ॥७॥

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो,
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते,
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥८॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्,
चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो,
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥९॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि,
यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो,
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥१०॥

क इव नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं,
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः,
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥११॥

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां,
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता,
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥१२॥

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्,
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया,
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥१३॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया,
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-,
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥१४॥

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर,
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो,
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥१५॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो,
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्,
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥१६॥

अपरमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता,
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्,
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥१७॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो,
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे,
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥१८॥

नृषु तव मायया भ्रममभीष्वगत्य भृशं,
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः,
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥१९॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं,
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं,
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥२०॥
स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथैं,
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां,
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥२१॥
भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा,
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे,
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥२२॥
सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं,
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया,
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥२३॥
न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना,
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।

अत उपमायते द्रविणजातिविकल्पपथै,
वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥२४॥
स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्,
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो,
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥२५॥
यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा,
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव,
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः ॥२६॥
त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो,
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया,
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥२७॥
द्यु पतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया,
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसिवान्ति वयसा सह यच्छ्रु तय,
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुःसिद्धाज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ॥२९॥
इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥३०॥
त्वं चैतद् ब्रह्मदायाद श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् ।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

एवं स ऋषिणाऽऽदिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान् ।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥३२॥

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥३३॥
इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥३४॥
सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद् वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥३५॥

इत्येतद् वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥३६॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो,
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मादि देवों द्वारा द्वारकानाथ की स्तुति (१)

(१३५)

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दम्,
बुद्धीन्द्रिय प्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै
र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥१

(श्रीभा० ११ स्क० ६ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

एक दिवस अज गये द्वारका श्याम दरस हित ।
लिये संग सुर शंभु साध्य वसु सनकादिक सुत ॥
भये तृप्त नहिं नयन निरखि शोभा द्वारावति ।
कल्पवृक्ष के सुमन चरन धरि करहिँ विनय अति ॥
काटन भव बन्धन भजें, जिन पद पदुमनि भक्त जन ।
तिनि महँ तन मन वचन तें, करें सकल हम प्रभु नमन ॥

---

१ ब्रह्मादिक देवगण भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे नाथ ! हम आपके पादपद्मों में बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वचन से प्रणाम करते हैं। आपके चरणारविन्दों का विकट कर्ममय बन्धन से छूटने के निमित्त भावुकभक्त-मुमुक्षु-गण अपने हृदय के भीतर निरन्तर ध्यान करते रहते हैं ।

भगवान् का पादपद्म ही भावुक भक्तों के लिये भवसागर से पार होने का एकमात्र पावन पोत है। भगवान् के चरणारविन्द इतने अधिक पावन हैं, कि स्वयं पावनता भी जिन्हें प्राप्त होकर परम पावन बन गयी है। स्वयं भगवान् के साक्षात् पादपद्मों की बात तो छोड़ दीजिये। जिन चरणों के धोवन से निकली गंगा जी सकल भुवनों को पावन बनाने में समर्थ हैं, तो फिर साक्षात् चरणारविन्दों की तो बात ही क्या है। इसीलिये भक्त गण चरणारविन्दों में ही आकर प्रणत होते हैं, उन्हीं में अपना सर्वस्व समर्पण कर देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी को इस अवनि पर विराजित हुए लगभग सवा सौ वर्ष हो गये। अब भगवान् की स्वधाम पधारने की इच्छा हुई। भगवान् के रुख को देख कर ब्रह्मा जी उनके समीप इस लिये गये कि देखें भगवान् अब क्या करना चाहते हैं। ब्रह्मा जी अकेले भगवान् के समीप द्वारावती में नहीं गये। वे एक बड़े भारी शिष्टमंडल को अपने साथ साथ ले गये थे। जिस में उनके सनकादि मरीचादि पुत्र थे, सभी देवगण तथा प्रजापतिगण थे। त्रिशूलपाणि कामारि भगवान् शङ्कर भी थे। उनंचास मरुद्गण, इन्द्र, द्वादश आदित्य, रुद्र, आठोंवसु, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सरायें, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृगण, विद्याधर, किन्नर तथा अन्यान्य और भी बहुत से उपदेवगण थे। इन सबका एक विशाल शिष्टमंडल समुद्र के मध्य में सुवर्ण की बनी द्वारावती में पहुँचा। द्वारकापुरी की सुंदरता और समृद्धि के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। जिसमें स्वयं साक्षात् अखिल भुवनपति भक्त वत्सल भगवान् सम्पूर्ण संसार के मल को हरने वाला, अपना परम पावन त्रैलोक्य को कृतार्थ करनेवाला सुयश, समस्त लोकों में

फैलाये हुए हैं। द्वारकापुरी में पहुँच कर उन्होंने भगवान् वासुदेव के दर्शन किये और स्वर्गोद्यान नन्दनवन के अम्लान दिव्य पुष्पों से उनके चरणारविन्दों को ढक दिया। फिर वे सभी अत्यंत श्रद्धा-भक्ति से अंजलि बाँध कर, मस्तक नवाकर गद्गद वाणी से भूत भावन भगवान् की स्तुति करने लगे।

ब्रह्मादि देवगण सभी भगवान् के चरणारविन्दों के उपासक हैं। क्योंकि ये सभी किसी न किसी पद पर प्रतिष्ठित हैं, अधिकारारूढ़ हैं, वे शिष्टाचार परम्परा तथा सदाचारानुसार भगवान् से आँखें तो मिला नहीं सकते। सम्मुख होकर भगवान् के मुखारविन्द का अवलोकन तो कर नहीं सकते, इनके इष्ट तो चरण कमल ही हैं। अतः ये चरण कमलों की ही वन्दना करते हुए कहने लगे—"प्रभो! यह कर्ममय सांसारिक बन्धन अत्यंत ही विकट है। यह ऐसा दृढ़तर वन्धन है कि इसका पार पाना असंभव ही है। यह असार संसार सागर सरलता से पार किया ही नहीं जा सकता। यह तो आपके अरुण वरण के चरणारविन्दों के ही सहारे से पार किया जा सकता है, तभी तो मुक्ति की इच्छा वाले मुमुक्षु तथा भक्ति भाव को प्राप्त करने वाले भावुक भक्त, इन्हीं चरणारविन्दों को हृदयमें धारण करके निरन्तर इन्हीं का ध्यान चिन्तन करते रहते हैं। संसारी लोगों के एकमात्र आश्रय ये पुनीत पाद पद्म ही हैं। इन्हीं में सर्वस्व समर्पण करके सुख तथा शान्ति की प्राप्ति होती है। अतः हम अपनी सत् असत का विवेक करने वाली बुद्धि द्वारा, समस्त विषयों का ज्ञान कराने वाली तथा कर्म करने वाली ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा, सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले तथा शरीर के विभिन्न विभिन्न भागों में रह कर विभिन्न विभिन्न नाम धारण करने वाले, दश प्राणों द्वारा, समस्त इन्द्रियों को घुमाने वाले उन पर शासन करने वाले

मननशील मनके द्वारा तथा वचनों द्वारा हम आपके पादारविन्दों में प्रणाम करते हैं।

स्वामिन ! यह त्रिगुणमयी माया स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं। यह तो आपके ही अधिष्ठान से इस प्रपञ्च की रचना करती है। आप इसके सत्व,रज और तम इन गुणोंमें नियंता रूप से स्थित रहते हैं। इसी से यह अनिर्वचनीय सृष्टि उत्पन्न होती है फिर आप ही इसका पालन भी करते हैं और अन्त में आप ही सबका संहार करते हैं। इतना सब होने पर भी ये कर्म आपको स्पर्श भी नहीं कर सकते, आप इनसे सर्वथा अलिप्त ही बने रहते हैं। निरानन्द जगत् की चिंता, भय, शोक मोह तथा अन्यान्य उद्‌विग्न बनाने वाली वृत्तियाँ आपके समीप तक फटकने नहीं पातीं, क्योंकि आप तो अखंड आनन्द स्वरूप हैं। परिपूर्ण सुख के सदन हैं। शाश्वती शान्ति के सनातन स्रोत हैं, इन राग द्वेष अभिनिवेषादि कुत्सित वृत्तियों से सर्वथा रहित हैं। ऐसे आप शोभा के धाम, सकल सद्‌गुणों के विश्राम घनश्याम के पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो ! दुर्वृत्तियों के कारण यह अन्तःकरण मलिन बन गया है। यह किसी प्रकार विशुद्ध बन जाय तो आप का इसमें प्रतिविम्ब पड़े। शास्त्रों में अन्तःकरण की शुद्धि के अनेकों उपाय बताये हैं। भली प्रकार पढ़ी हुई विद्या के द्वारा भी अन्तःकरण शुद्ध हो सकता है। विविध शास्त्रों का श्रवण भी एक उपाय है। मंत्र जप से भी मन की शुद्धि बताई गयी है, दान तथा तपस्या भी मन की शुद्धि में कारण हैं। किंतु जिनका मन मलिन है ऐसे लोगों की शुद्धि इन विद्या तप दानादि से भी उतनी नहीं होती। वैसे शुभ कर्म व्यर्थ तो जाते नहीं। परन्तु इनसे पूर्ण शुद्धि नहीं होती। सत्पुरुषों की पूर्ण शुद्धि तो आपकी कथा के श्रवण से ही होती

है। महत्पुरुषों के मुख से आपके परम पावन यश को श्रद्धा सहित श्रवण किया जाय। उससे श्रद्धाभक्ति पुष्ट होगी उस पुष्ट हुई उत्तम श्रद्धा के द्वारा जैसा अतःकरण विशुद्ध बनता है, वैसा अन्य किसी साधन से नहीं बनता। अतः आपकी श्रद्धा से श्रवण की हुई कथा ही जीव के समस्त अशुभों को नाश करने में समर्थ हो सकती है। ऐसे पुण्यश्रवणकीर्तन, पुण्यश्लोक आप प्रभु के पादपद्मों में हम सब श्रद्धा भक्ति सहित प्रणाम करते हैं।

हे ऋषभ! हे भगवन्! हे परम पूजनीय प्रभो! जितने साधक हैं, वे विविध साधनों द्वारा आपके इन चरणारविन्दों का ही यजन पूजन करते हैं। मननशील मुनिगण एकान्त स्थान में बैठकर चित्तकी बिखरी हुई वृत्तियों को रोककर, कल्याण कामनासे प्रेमार्द्र हृदय से आपके ही पुनीत पादपद्मों का प्रेमपूर्वक पूजन करते हैं। पांचरात्रादि शास्त्रों के अनुसार जो सात्वत भक्तगण आपके लोक की प्राप्ति के निमित्त स्वर्गादिलोकों को भी अतिक्रमण करने की अभिलाषा से तीनों समय आपके चरणारविन्दों का ही पूजन करते हैं। वे सात्वतगण वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चतुर्व्यूहों द्वारा ही आपकी उपासना करते हैं। ये चतुर्व्यूह अन्तःकरण की मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार वृत्तियों के अधिष्ठातृ रूप में हैं। इनका पूजन उनकी इष्ट की पूर्ति के निमित्त अमोघ है।

इसी प्रकार जो अग्निहोत्री हैं, विधिवत यजन करने वाले हैं। वे भी ऋक्, यजु और साम-इस वेदत्रयी द्वारा वेदों में बतायी

विधि से हवन करते हैं। वे विधि का सदा ध्यान रखते हैं। विधिहीन यज्ञ का कर्ता शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। इस वेद की विधि से भयभीत होकर बड़े नियम से, संयत करों द्वारा हवनीय पदार्थों को लेकर, यथाविधि प्रज्वलित यज्ञाग्नि में मंत्रों को पढ़ते हुए आहुतियाँ देते हैं। वे भी अग्नि में आहुति देते हुए आपके ही पादारविन्दों का चिन्तन करते रहते हैं।

इसी प्रकार जो योगी हैं। आपकी माया को जानने की जिनको जिज्ञासा है। जिन्होंने संयम साधनों द्वारा शरीर के समस्त मलों को निकाल दिया है, जो निर्मल होकर धारणा, ध्यान और समाधि तक पहुँच गये हैं, वे भी उस अध्यात्म योग द्वारा आपके ही चरण कमलों का ध्यान करते हैं।

जो परम भागवत हैं। भगवान् ही जिनके एकमात्र इष्ट हैं, जो श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि द्वारा सदा सर्वदा भक्ति में ही तल्लीन रहते हैं। उन भोले भाले भावुक भगवत् भक्तों के तो ये पाद पद्म सर्वथा इष्ट ही हैं। वे तो इन पादपद्मों को ही समर्पित करके समस्त कार्य करते हैं। वे ही चरणारविन्द हमारे समस्त पापों को जलाने के लिये, हमारे समस्त अशुभों को भस्म करने के निमित्त अग्नि स्वरूप हो जायँ। अर्थात् इनके स्मरण से हमारे समस्त पाप संताप जलकर राख हो जायँ।

प्रभो! भक्तों द्वारा पहिनायी हुई जो आपके कंठ में पड़ी वनमाला है। चिरकाल से पड़ी रहने से कुछ कुछ कुम्हलायी सी भी

प्रतीत होती है उससे भगवती लक्ष्मी कुछ सौतिया डाह करती हैं। क्योंकि वक्षःस्थल ही उनके रहने का स्थान है, वहाँ पर माला ने अधिकार जमा लिया है। अपने स्थान पर जो बलपूर्वक अधिकार जमा ले उससे ईर्ष्या होनी स्वाभाविक ही है। किन्तु आप लक्ष्मी जी की परवाह न करके, भक्तों की पूजा में दी हुई माला को प्रेमपूर्वक स्वीकार करते हैं, क्योंकि यह माला आपके चरणसेवकों की दी हुई है। चरणसेवा करने के प्रभाव से वह भगवती लक्ष्मीजी की द्वेषाग्नि को भी शमन करने में समर्थ बन जाती है। आपके चरणारविन्दों की महिमा ही ऐसी अनोखी है। ऐसे अत्यन्त महिमावाले वे आपके चरणारविन्द हमारे अशुभों को नाश करने में अग्नि का काम दें। अर्थात् हमारे सब अशुभों को तत्काल भस्मसात् कर दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्रह्मादि देवताओं ने भगवान् के चरणारविन्दों की बड़ी देर तक स्तुति की। अभी उनकी स्तुति का वर्णन समाप्त नहीं हुआ, शेष स्तुति का वर्णन मैं कुछ देर रुककर आचमन करके आगे करूँगा।

छप्पय

माया करि विस्तार करो पालन संहारन।
हेतु न करमनि लिप्त नित्य आनँद विधारन॥
पावन यश के श्रवन शुद्ध होवै सबको मन।
चतुर व्यूह को करें भक्त याही तें पूजन॥
याजक विधिवत यज्ञ करि, ध्यान करें योगी अमल।
जे श्री भक्तनि तुष्टकर, बन्दौं प्रभु के पद कमल॥

पद

वन्दौं प्रभु पद पदुम तिहारे।
मायानाशक नित्य एक रस, थिति लय करिबे बारे ॥ १ ॥
शास्त्र श्रवन स्वाध्याय दान तप, मलिन हिये यदि धारे।
करैं न शुद्ध श्रवन सम स्वामिन, तव महिमा बिस्तारे ॥ २ ॥
जिनि चरननि सात्वत जन ध्यावें, चतुर व्यूह अति प्यारे।
याजक विधिवत आहुति देवें, चरन कमल हिय धारे ॥ ३ ॥
भक्तनि के जो इष्ट परम प्रिय, जिनि अगनित जन तारे।
अशुभ दहन हित होहिँ अनल सम, सबई विघन विदारे ॥ ४ ॥
वनमाला श्री हिय में साले, पहिनावें तव प्यारे।
धारन करि प्रभु सुख सरसावें, पावन चरन सहारे ॥ ५ ॥

—(:)०(:)—

ब्रह्मादि देवों द्वारा द्वारकानाथ की स्तुति (२)

(१३६)

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत् पताको—
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेव चम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्,
पादः पुनातु भगवन्भजतामघं नः ॥ १

(श्री भा० ११ स्क० ६ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

जो पद पदुम पताक भई सुरसरि जगमाहीं ।
असुरनि भय सुर अभय परसि सतपुरुष सिहाईं ॥
अज सुर जिनि संकेत नचैं निरलिप्त सदाईं ।
नियमन सबको करें काल के काल कहाईं ॥
जिनके शुभ संकेत तैं, प्रकृति पुरुष क्रीड़ा करें ।
रचि पचि कैं ब्रह्माण्ड कूँ, रूप विविध विधि प्रभु धरें ॥

भक्तों को भगवान् के चरण कमल ही भवसागर से पार करते हैं, इसीलिये आश्रितगण सदा सर्वदा सभी आश्रयों का परित्याग करके, एकमात्र प्रभु पादारविन्दों का ही आश्रय ग्रहण करते हैं ।

---

१ ब्रह्मादि देवगण भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो ! वामनावतार में जो आपने जिस चरणारविन्द से तीन डग नापी थी, उस

सूतजी कहते हैं मुनियो! भगवान् के चरणों की स्तुति करते हुए ब्रह्मादि देवगण कह रहे हैं—"प्रभो! आपके परम भक्त अनन्याश्रय महाराज बलि निरंतर यज्ञों द्वारा आपके चरणारविन्दों का ही चिन्तन करते थे। उनके चित्त में सदा आपके चरण ही विराजमान रहते। आपके चरणों को छोड़कर वे किसी अन्य का ध्यान भी नहीं करते। तब आपको विवश होकर अपने आश्रित भक्त की भावना पूर्ण करने के निमित्त अपने सुकोमल चरणों से चलकर उनके यज्ञ स्थल तक जाना पड़ा। अपने इष्ट चरणों के दर्शन से भक्तराज बलि परम प्रमुदित हुए। आप छोटे से बटुवामन बनकर गये थे। उन कमल की अत्यन्त कोमल पंखुड़ियों के समान नन्हें नन्हें चरणों को निहारकर असुर राज आनन्द में विभोर हो गये, उन्होंने विधिवत उन सुकोमल चरणों की अपनी पत्नी विन्ध्यावली के साथ पूजा की। आपने त्रिभुवन पर विजय पाने के लिये याचना रूपी दुंदुभी बजाई। उन्हीं सुकोमल चरणों को बढ़ाकर दो डग में विश्व ब्रह्माण्ड को नाप लिया। आपने त्रिभुवन को तीन डगों में विजय कर लिया उसका कोई चिन्ह भी तो होना चाहिये। कोई राजा दूसरे के राज्य को जीतता है तो वहाँ अपना झंडा गाड़ देता है। विजय पताका फहरा देता है। आपने तो तीनों लोकों को विजय किया था। अतः तीन रंग की तीनों लोकों में फहराने वाली और सदा लहराने वाली विजय पताका चाहिये। सो ये त्रिपथ गामिनी भग-

---

चरणारविन्द की तीन धाराओं में बहनेवाली त्रिपथ गामिनी भगवती सुरसरि ही मानों विजय पताका थीं। जो चरण असुरों को भय तथा सुरों के अभय, और साधुओं को स्वर्ग तथा खलोंको नरक देनेवाला है, वही भजने भजनेवाले हम भक्तों के पापों का परिशोधन करे।

वती सुरसरि हैं, मानो आपकी विजय वैजयंती हैं। ये स्वर्गमें मंदा-किनी के नाम से, पातालमें भोगवतीके नामसे और पृथ्वी में गंगा इस नाम से विख्यात हैं। यह आपके चरणारविन्दों से निसृत हैं, और त्रिभुवन को पावन बनाने के गुण इनमें आपके चरणार-विन्दों से हो आये हैं। सुरसरि के भी जो आदि उद्गम हैं वे चरणारविन्द हम आश्रितों का, हम अकिंचनों का, हम शरणागत तथा प्रपन्नों के पाप नाशने के लिये खड्ग का काम करें। हमारे अघों का परिमार्जन करें।

प्रभो! ये ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जितने भी चर अचरदेह धारी हैं, वे सभी आपके अधीन हैं। बिना आपकी आज्ञा से तिल भर भी नहीं हट सकते। जैसे पशुपति वृषभादि पशुओं को नाक में नकेल डालकर उन्हें इच्छानुरूप घुमाते हैं, वे पशु स्वामी के संकेत पर नाचते हैं। विपरीत दिशा में जा ही नहीं सकते। ये पशु परस्पर में काम क्रोध के अधीन होकर लड़ते हैं, भिड़ते हैं, चिल्लाते हैं तथा डकराते हैं, किन्तु सभी उसी आपकी वेदाज्ञा रूपी दाम में बँधे हैं। उससे न राई भर घट सकते हैं न तिल भर बढ़ सकते हैं। आप ही काल रूप बनके सबका कलयन करते हैं। प्रकृति पुरुष के संयोग से जो यह संसार चक्र चल रहा है यह भी आपके संकेत से ही चल रहा है। आप दूर बैठे बैठे जैसे कठ पुतली नचाने वाला काठ की पुतलियों को नचाता है। वैसे सबको नचा रहे हैं, आप प्रकृति और पुरुष से परे हैं, पुरुषोत्तम हैं ऐसे आप सब को नचाने वाले पुरुषोत्तम के पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

भगवन्! आप चराचर जीवों पर ही नियंत्रण ... हीं, उन्हीं की नाक में नकेल डालकर घुमाते हीं, उन्हीं को में बाँधकर कठपुतलियों की भाँति नचाते हीं सो पार

आप तो प्रकृति पुरुष महत्तत्व का भी नियन्त्रण करते हैं। काल रूप से इन सबको भी नचाते हैं। आप ही काल बनकर सृष्टि करते हैं, फिर इन काल से ही उसका पालन करते हैं और काल आने पर संहार भी आप ही कर देते हैं। आप ही काल पाकर शीतकाल कर देते हैं, फिर काल आने पर ग्रीष्म बन जाते हैं और काल से वर्षा करने लगते हैं। तीन ऋतुयें ही मानों आपकी नाभि हैं। आपका वेग बड़ा गंभीर है। आपके वेग को कोई जान नहीं सकता। आप महाकाल का रूप रखकर क्षण भर में समस्त लोकों का नाश कर डालते हैं। ऐसे काल रूप आप परम पावन प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है, नमस्कार है।

प्रभो! आप पुरुष से भी उत्तम हैं। आपकी आज्ञा से यह पुरुष प्रकृति रूपी नारी में महत्तत्व रूप गर्भाधान करता है। प्रकृति में गर्भ आपकी प्रेरणा से ही बढ़ता है। यह प्रकृति के पेट में बढ़ता ही जाता है, बढ़ता ही जाता है। एक आवरण, दो आवरण, तीन आवरण, चार आवरण, पाँच आवरण, छै आवरण, और सात आवरण इस प्रकार सात आवरण वाला यह प्रकृति के पेट में सुवर्ण वर्ण का अंडा बन गया। आप ब्रह्म का ही अंडा होने से लोग इसे ब्रह्माण्ड कहने लगे, यह सब आप त्रिगुणमयी माया को ही लेकर खेल करते रहते हैं। ऐसे क्रीड़ा प्रिय आप पुरुषोत्तम के पादपद्मों में प्रणाम है।

आप समस्त इन्द्रियों के ईश हैं, स्वामी हैं इसीलिये हृषीकेश कहलाते हैं। चर अचर ऐसा कोई भी जीव नहीं जो आप की आज्ञा न मानता हो, आप तो सबके अधीश्वर ही ठहरे। तीनों गुणों में जब न्यूनाधिक्य होता है तभी सृष्टि का प्रवाह बहने लगता है। भाँति भाँति के मोहक पदार्थ पैदा हो जाते हैं। उनके आकर्षण से आकर्षित होकर जीव फँस जाते हैं, जन्म मरण

के चक्कर में पड़कर घूमने लगते हैं, किन्तु आप इन समस्त पदार्थों का उपभोग करते हुए भी-इन सब भोगों को भोगते हुए भी-सदा सर्वदा निर्लिप्त ही बने रहते हैं। आपको ये भोग तनिक भी अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। ऋषि मुनि इन भोगों को अनित्य, क्षणभंगुर, नाशवान तथा बन्धन का कारण समझकर इनका सर्वथा त्याग करके वन, पर्वत तथा एकान्त अरण्यों में चले जाते हैं और वहाँ कड़वे कसैले वन्य फलों को खाते हुए तपस्या में निरत रहते हैं। इतने पर भी वे सदा भयभीत ही बने रहते हैं, कि ऐसा न हो ये विषय भोग हमें यहाँ आकर भी घेर लें। हमारी तपस्या में विघ्न न डाल दें। किन्तु आप इन भोगों को भोगते हुए भी निर्विकार ही बने रहते हैं।

प्रभो! विश्वामित्र पराशरादि मुनियों ने सहस्रों वर्ष घोर तपस्या की। उन्होंने तपस्या करते करते परमसिद्धि प्राप्त की। किन्तु कभी कोई एक सुन्दरी आ गयी तो उसके ही कामबाण से विद्ध हो गये। वे करें भी तो क्या, आपकी यह कामिनी रूपी माया है ही प्रबल। जब आपने इनकी रचना पुरुषों को आकर्षित करने के निमित्त, उनकी बुद्धि को हरण करने के निमित्त ही की है, तो आपकी ही सृष्टि का रचा प्राणी मोहित कैसे न हो। किन्तु प्रभो! आप पर इनके नयन बाणों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता।

भूमंडल में जितने भी कुलीन, यशस्वी तेजस्वी राजा थे, उनकी सबसे सुन्दरी राजकुमारियों से आपने विवाह किया, जिनकी उपमा देवलोक की सुर सुंदरियों तक से, शची और रति से भी नहीं दी जा सकती। ऐसी एक दो दश बीस सौ, दो सौ हजार पाँच सौ नहीं, पूरी सोलह हजार एक सौ आठ सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी थीं, उन सब के साथ आपने विधि विधान

पूर्वक शास्त्रीय रीति से विवाह किया । वे सभी रतिकला में परम-प्रवीणा थीं । वे अपने हाव भाव कटाक्षों से, मनमोहक मन्द मन्द मृदुल मुसकान से, चित्तहर तिरछी चितवन से , भव्य भाव भरी भाव भङ्गीमय भ्रुकुटियों द्वारा फेंके हुए सुरत मन्त्र परिपुष्ट काम बाणों से आपको बेधने का, आपको वश में करने का सतत प्रयत्न करती रहती थीं, किन्तु वे आपकी इन्द्रियों में तनिक भी चंचलता उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकीं, आपके मन को डिगाने में वे सर्वथा असमर्थ ही बनी रहीं । इससे अधिक आपकी निर्विकारता का हम क्या वर्णन करें ।

प्रभो ! जीव स्वकृत पापों द्वारा ही जन्म मरण के चक्कर में फँस कर नाना योनियों में भटक रहा है । आप ने कृपा करके प्राणियों के उद्धार के लिये ऐसे दो सरल सुगम साधन उत्पन्न कर दिये हैं, कि जिनका आश्रय लेकर पापी से पापी प्राणी भी प्रसन्नता पूर्वक पाप पयोधि से पार हो सकता है । उसमें एक तो आप के चरणारविन्द से निकली गंगा जी हैं और दूसरी आप की ललित लीलाओं से युक्त कमनीय कथा है ।

वामनावतार में ब्रह्मा जी के कमंडलु से ब्रह्मलोक तक बढ़े हुए पाद पद्म के प्रक्षालन से प्रभव जो सुरसरि का पुण्य प्रवाह है, वह पाप की राशि को गलाने में सर्वथा समर्थ है । जीव जान में, अनजान में, श्रद्धा से, अश्रद्धा से कैसे भी सुरसरि के शीतल शुभ्र सलिल में घुस जाय । इस नश्वर शरीर को उस ब्रह्मद्रव में धो दे इसी से बेड़ा पार है । इसीलिये सत्संगसेवी विवेकी जन सदा सर्वदा सुरसरि के ही समीप निवास करते हैं । उसी के सुधासदृश सलिल का नित्य नियम से सेवन करते हैं । उसी की मृत्तिका को शरीर में लगाते हैं ।

दूसरी पाप नाशिनी है आपकी कथा। आपकी कमनीया कीर्ति ही सुखकरी सरिता है, उसमें आपकी कथावार्ता रूपी ही अमृत का प्रवाह वह रहा है, उसे विज्ञ जन श्रवण पुटों द्वारा निरन्तर अपने हृदय में भरते रहते हैं। वे उस कथामृत के पान से अघाते नहीं। पीते पीते कभी थकते नहीं। निरन्तर सुनते ही रहते हैं, पीते ही रहते हैं। गंगा और कथारूपी ये दोनों सरितायें त्रिलोकीके समस्त पापों को धोने में समर्थ हैं। अतः प्रभो ! हम डंके की चोटके साथ कहते हैं, जिन्हें अपने पापों को भस्म करना हो उन्हें गंगा जी का सेवन करते हुए निरन्तर आप के कथा कीर्तन में ही लगा रहना चाहिये। फिर उनके पाप रह ही नहीं सकते। इन गंगा और कथारूपी तीर्थों का सेवन सभी सुखों को देने में सर्वथा समर्थ हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ब्रह्मादि देवों ने भगवान की स्तुति की, फिर ब्रह्माजी ने भगवान् से स्वधाम पधारने की प्रार्थना की। जिसे भगवान ने स्वीकार किया। इस प्रकार यह मैंने ब्रह्मादि देवों द्वारा की हुई द्वारकानाथ की स्तुति का वर्णन किया। अब जैसे चिरजीवी मार्कण्डेय मुनिने शिवजीकी स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप शिव जी को इस स्तुति को ध्यान पूर्वक श्रवण करें

छप्पय

सकल चराचर ईश रहें निरलिप्त निरन्तर।
ऋषि मुनि मनमहँ बसहिं तऊ हरि काँपें थरथर॥
रानी सोलह सहस सुघर वर मृदुल मनोहर।
भावभ्रुकुटि सर तान चलावें नहिं परसें उर॥
पाप पहारनि ढाइवे, द्वै ई सुगम उपाय वर।
गंग कथा तन श्रवन तैं, सेवैं भवनिधि जायँ तर॥

पद

कथा अरु गंगा पाप नसावैं ।
श्रद्धायुत जे सेवें सज्जन, तिनि ढिँग अघ नहिँ आवैं ।।१।।
त्रिपथगामिनी भुवनपताका, वामन विजय बतावैं ।
जिन चरननि तैं निकसी गंगा, तिनिमहँ शीश नवावैं ।।२।।
सबके स्वामी अन्तरयामी, भुवनेश्वर कहलावैं ।
करें परस नहिँ विषय भोग जग, भोगें नहिँ लिपटावैं ।।३।।
सोलह सहस सुंदरी सैना, नित सर सुरति चलावैं ।
हाव भाव भंगी कुटिलनितैं, प्रभु मन मोहि न पावैं ।।४।।
गंगान्हाओ कथा सुनो नित, यम फिरि निकट न आवैं ।
प्रभु पद सुखकर परम मनोहर, बार बार सिर नावैं ।।५।।

ब्रह्मादि देवों द्वारा श्रीकृष्ण स्तुति

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं,
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैः,
मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥१॥
त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं,
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै,
यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥२॥
शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां,
विद्याश्रुताध्ययनदानतपः क्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध,
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात् ॥३॥
स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः,
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतः समविभूतय आत्मवद्भिः
व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥४॥

यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ,
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां,
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥५॥

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं,
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः ।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो,
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥६॥

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको,
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्,
पादः पुनातु भगवन् भजतामघं नः ॥७॥

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति,
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य,
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥८॥

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना,
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः,
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥९॥

त्वत्तः पुमान् समधिगम्य यया स्ववीर्यं,
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥१०॥
तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो,
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो,
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥११॥
स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि,
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैः,
यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥१२॥
विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः,
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्ग-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥१३॥

मार्कण्डेय मुनि द्वारा नारायण की स्तुति (१)

(१३७)

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मन इन्द्रियाणि ।
स्पन्दन्ति वै तनु भृतामजशर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥ १
(श्री भा० १२ स्क० ८ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

मार्कण्डेय मुनीश तपस्या करहिँ हिमालय ।
भये पराजित काम दरस दीये हर सुखमय ॥
शिवा सहित शिव पूजि सुखद आसन बैठाये ।
मुनि अति हरषित भये विनययुत वचन सुनाये ॥
का महिमा वरनन करूँ, प्रेरक सबके जगतपति ।
भक्तनि हित नित देह धरि, निज दरसन तैं देहु गति ॥

जो भगवत् भक्त हैं, जिन्होंने तपस्या द्वारा समस्त कल्म

१ भगवान् नर नारायण जी की स्तुति करते हुए मार्कण्डेय मुनि क
रहे हैं—"हे विभो ! मैं आपकी महिमा का वर्णन कैसे करूँ ? जिन प्र

का नाशकर दिया है। संसार में उनके लिये कुछ भी असवय नहीं, वे जो चाहें सो कर सकते हैं। अन्तराय तो यह मल ही है। जब शरीर से मल निकल गया, अन्तःकरण निर्मल बन गया, तो उसमें भगवान् का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे भगवान् के दर्शन होते हैं। स्तुति प्रार्थना करके जिसने शुद्ध चित्त से भगवान् को प्रसन्न कर लिया, उसके लिये फिर संसार में कौन सी वस्तु असम्भव है। वे सब कुछ करने में समर्थ हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! महर्षि मृकंडु के तनय परम तपस्वी महामुनि मार्कण्डेय पुष्पभद्रा नदी के तट पर रहकर उग्र तपस्या करते रहे। देवराज इन्द्र ने उनकी तपस्या में विघ्न करने के निमित्त अप्सराओं के सहित कामदेव को भेजा, किन्तु मुनि तप से विचलित नहीं हुए, कामदेव अपना-सा मुँह लेकर लौट गया। इसके अनन्तर कल्प पर्यन्त लोक कल्याण के निमित्त बदरीवन में रहकर तपस्या करनेवाले भगवान् के अवतार तपस्वियों का सा वेप बनाये भगवान् नर नारायण ने आकर मुनिवर को दर्शन दिये। भगवान् ने नर और नारायण दो रूप बना रखे हैं। भगवान् को तपस्वी वेप में अपने आश्रम पर आया हुआ देखकर महामुनि मार्कण्डेयजी संभ्रम के साथ खड़े हो गये। उन्होंने शास्त्रीय विधि से उन दोनों लोकवन्दित तपस्वियों की पूजा की। मुनि की पूजा को भगवान् ने शास्त्रीय विधि से ही स्वीकार किया। तब मार्कण्डेय मुनि दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे प्रेमाश्रु लोचनों से उनके चरणार-

---

के कारण वाणी, मन तथा समस्त इन्द्रियाँ अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं, वे देहधारियों के प्राण आपकी प्रेरणा से ही चेष्टा करते हैं, यही नहीं ब्रह्मा तथा रुद्र के प्राणों की प्रवृत्ति भी आपके ही अधीन है, आप भजन करने वालों के भावबन्धु हैं।

बिन्दों को निहारते हुए गद्‌गद् वाणी से स्तुति करने लगे।

भगवान् नर नारायण की स्तुति करते हुए महामुनि मार्कण्डेय जी कह रहे हैं—"प्रभो! वाणी उसी विषय का वर्णन कर सकती है, जो उसके कहने का विषय हो। आप तो भगवन्! मन वाणी तथा बुद्धि से भी परे हैं, फिर आपके सम्बन्ध में यह वाणी कह ही क्या सकती है, क्योंकि यह तो जड़ है। वाणी ही जड़ नहीं समस्त कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ भी जड़ हैं, और तो क्या इन सब इन्द्रियों का प्रेरक मन भी जड़ है। केवल प्राणों की चेष्टा से ही ये सब चेष्टावान् बनते हैं। प्राणों की गति से ही सबमें स्पंदन होता है। उन देहधारियों के प्राणों में चेष्टा की प्रेरणा करनेवाला कौन है? कौन इन्हें चेष्टावान् बनाता है? कहना होगा प्राणों को प्रेरणा आपके ही द्वारा प्राप्त होती है। जगत् के स्थावर जङ्गम, चर अचर, जड़ तथा चैतन्य सभी में प्राण हैं और आपकी ही प्रेरणा से प्राणियों के शरीर में विविध भाँति की चेष्टायें करते हैं। जड़ को चैतन्य बनाने वाले आप ही हैं। सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों के ही नहीं जो इस जगत् को रचते हैं, उन ब्रह्माजी के प्राणों को भी प्रेरणा देनेवाले आप ही हैं। जगत् के संहारकर्ता शर्व के प्राणों को भी प्रेरणा आपसे ही प्राप्त होती है। आपको किसी से भी प्रेरणा प्राप्त नहीं होती, आप परम स्वतंत्र हैं, सबके स्वामी हैं, सबके नियामक हैं। लोग तो माता-पिता भाई बन्धु को ही सगे सम्बन्धी कहते हैं, किन्तु ये अनित्य शरीर वाले माया के फंदे में फँसे जीव क्या सम्बन्धी होंगे। सच्चे सम्बन्धी तो हे सच्चिदानन्दघनस्वरूप प्रभो! आप ही हैं। आप के बिना दूसरा कोई आत्माका बन्धु नहीं। आप अपने भजनेवालों के सुहृद् हैं, आत्मा हैं, सगे सम्बन्धी और परम हितैषी हैं। अतः आपके पादपद्मों में वार वार नमस्कार है।

प्रभो ! आप लोकके कल्याणार्थ विविधरूप रख लेते हैं। कभी कछुआ बन जाते हैं, कभी मछली हो जाते हैं, कभी नृसिंह का रूप रख लेते हैं। उसी प्रकार अबके आपने त्रिलोकी के अभ्युदय के निमित्त, संसारी लोग दुःखों से छूट जायँ, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लें, इस भावना से ये दो नर और नारायण पृथक् पृथक् रूप रख लिये हैं। इस जगत् को किसी अन्य ने बनाया हो सो बात नहीं। जैसे मकड़ी अपने ही पेट से तार निकालकर एक जाल बनाती है। जब तक इच्छा होती है उस अपने ही रचे जाल में प्रसन्नतापूर्वक क्रीड़ा करती है, जब इच्छा होती है तब अपने ही आप उसे फिर से निगल जाती है, फिर उसे उदरस्थ कर लेती है। ऐसे ही इस जगत् को रचते भी आप हैं, पालन भी आप ही करते हैं और अन्त में आप ही इसे अपने में लीन कर लेते हैं।

हे सर्व समर्थ स्वामिन् ! जीव का एकमात्र परम पुरुषार्थ आपको पाना ही है। वेदवेत्ता मुनिगण आपको पाने के निमित्त ही विविध भाँति की साधनायें करते हैं। वे विविध भावमय स्तोत्रों द्वारा आपका ही स्तवन करते हैं। आपके चरणारविन्दों का वन्दन करते हैं। विविध भाँति के सामग्रियों से वैदिक तान्त्रिक तथा मिश्रित अनेक प्रकार की विधियों से आपका ही पूजन करते हैं। योग के अंगों द्वारा शरीर को शोध कर दृढ़ आसन लगाकर प्राणायाम और प्रत्याहार करके आपका ही योगीगण ध्यान लगाते हैं, आपका ही समाधि में साक्षात्कार करते हैं।

प्रभो ! संसार में सभी जीव कर्मों के अधीन होकर नाना अच्छे बुरे भोगों को भोग रहे हैं। अपने गुण कर्मों से विवश होकर उच्च नीच योनियों में भ्रमण कर रहे हैं। काल उन्हें अपना कवल बनाकर क्लेश पहुँचाता है। किन्तु स्वामिन् ! जो आपके भक्त हैं, आपके चरणों में अनुरक्त हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व

आपको समर्पित कर दिया है, उन आपके आश्रित जनों को कर्म, गुण और काल जनित क्लेश स्पर्श तक नहीं कर सकता। आप चर अचर स्थावर जङ्गम सभी का नियमन करने वाले हैं, ऐसे आपके अरुण वरण के चरणारविन्दों की हम वन्दना करते हैं, उनके सम्मुख श्रद्धा से नत मस्तक होते हैं।

हे अशरण शरण! भक्तवत्सल परमेश्वर! काल से सभी प्राणी डर रहे हैं। सभी काल से बचने का उपाय कर रहे हैं, देवता अमर कहलाते हैं, किन्तु उनकी अमरता अपेक्षाकृत है। हम मनुष्यों की अपेक्षा वे अमर हैं, किन्तु पतन उनका भी होता है। काल पाकर वे भी गिराये जाते हैं। इन्द्र, प्रजापति, मनु, सप्तर्षि सभी का काल पाकर अंत होता है। सबसे बड़ी आयु वाले ब्रह्मा जी हैं, वे भी अपनी आयु के १०० वर्ष पूरे होने पर, दो परार्ध बीतने पर वे भी बदल जाते हैं। उन्हें भी काल रूप आप से सदा भय बना रहता है। जब इतने बड़े महान् देवता ब्रह्माजी भी आपसे भयभीत रहते हैं, तब अन्य साधारण प्राणियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।

यह प्राणी मृत्यु के भयसे चारों ओर भागता रहता है कभी स्वर्ग जाता है, कभी नरक जाता है, कभी पाताल जाता है, तथा कभी अन्य ऊपर नीचे के लोकों में जाता है, किन्तु इसे कहीं शान्ति नहीं, कहीं सुख नहीं, कहीं निर्भयता नहीं। जब यह सब ओर से निराश होकर आपके चरणों की शरण लेता है तो यह

स्वस्थ हो जाता है, मृत्यु इसका पीछा छोड़ कर भाग जाती है। आपके पादपद्म ही प्राणियों के लिये मोक्षके सदन हैं, वे ही एक मात्र आश्रय हैं। आपके चरणकमलों में हम प्रणत होते हैं, उनकी वन्दना करते हैं।

भगवन्! जीव को संसार में अनेक इच्छायें हैं, वह अपनी विविध इच्छाओं की पूर्ति के लिये अनेकों की शरण जाता है, कभी धन की इच्छा से धन मदसे मदान्ध हुए धनिकों के सम्मुख दीन होकर याचना करता है। कभी कामाग्नि से संतप्त होकर कामिनियों का क्रीड़ा मृग बन जाता है, कभी किसी क्षुद्रदेव की आराधना करने लगता है, किन्तु प्रभो! यदि प्राणी सच्चे हृदय से सब ओर से मन हटाकर सबकी आशा छोड़कर आपका ही भजन करने लगे, तो इसकी इहलोक तथा परलोक की समस्त कामनायें स्वतः ही पूर्ण हो जाती हैं। अपने समस्त इच्छित पदार्थों को वह आपसे ही प्राप्त कर लेता है। इसीलिये भगवन्! इन आत्मस्वरूप को आच्छादित करनेवाले, जिनका कोई फल नहीं, जो असत्य हैं ऐसे शरीर तथा शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त पदार्थों का परित्याग करके सत्य ज्ञान स्वरूप आप गुरुदेव की ही मैंने शरण ली है। आप परमेश्वर का ही मैं भजन करता हूँ, आपको ही मैं अपना सर्वस्व समझता हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महामुनि मार्कण्डेयजी ने भगवान नर नारायण की स्तुति की। वे और भी स्तुति करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जिनिको पूजन ध्यान करैं बन्दन ऋषि मुनि गन ।
काल न देवै क्लेश होहिं जे तिनिके निजजन ॥
रहैं सदा भयभीत जनक जग अज चतुरानन ।
मोक्षरूप नित जानि शरन लीन्हीं तव चरनन ॥
जानि देह निष्फल असत, तब पद पदुमनि भजन करि ।
पाहिं कामना सकल जन, इच्छित तव प्रभु पग पकरि ॥

पद

बन्दौं नर नारायन प्रभुवर ।
सकल प्रानधारी प्राननिफूँ प्रेरित करैं निरन्तर ॥१॥
माता पिता सगे सम्बन्धी, डसै काल तिनि विषधर ।
आपु काल के काल दयानिधि, मिटै चरन गहि सब डर ॥२॥
तव बन्दन पूजन सुमिरन, नित होवै भक्तनि सुखकर ।
काल जनित दुख परसै नहिं तिनि, जे पग पकरें दृढ़तर ॥३॥
आचारज, गुरु, सरग, ज्ञानधन, परम पुरुष परमेश्वर ।
प्रभु पद पदुमनि पुनि पुनि पकरें, कृपा करो करुनाकर ॥४॥

मार्कण्डेयमुनि द्वारा नर नारायण की स्तुति (२)

(१३८)

सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो,
मायामयाः स्थितिलयोदय हेतवोऽस्य ।
लीलाधृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै,
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम् ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० ८ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

त्रिगुनमयी तव मूर्ति सत्व ई शान्ति प्रदाता ।
नर नारायण रूप सत्तमय भवभयत्राता ॥
सर्वरूप सर्वेश सत्वमय सबके स्वामी ।
मन बानीतैं परे अखिलपति अन्तरयामी ॥
जीव अलखकूँ का लखै, आपु लखावैं कृपा करि ।
अज अविनाशी अमरपति, प्रनवौं प्रभुजी पग पकरि ॥

भगवान् ही विविध रूप रख कर इस संसार में क्रीड़ा करते हैं। उनकी सत्वमयी मूर्ति प्रकाश की ओर ले जानेवाली है, अतः

---

* नर नारायण भगवान् की स्तुति करते हुए मार्कण्डेय मुनि कह रहे हैं—हे सर्वभूतों के सुहृद् ! हे परमेश ! सत्व, रज और तम यद्यपि ये तीनों

मुमुक्षुगण सत्वमय श्रीहरि का ही सदा सर्वदा आराधन करते हैं। सत्व से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से यह संसार बन्धन सदा के लिये छूट जाता है। अतः एकमात्र भजनीय सत्वमूर्ति श्रीहरि ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मार्कण्डेय महामुनि भगवान् नर नारायण की स्तुति करते हुए आगे कह रहे हैं—"भगवन्! आप से ही ये गुण उत्पन्न हुए हैं। त्रिगुण मयी माया में जब विषमता होती है। तीनों गुणों की साम्यता जब नष्ट होती है। तब यह गुण प्रवाह रूप संसार चक्र अपने आप चलने लगता है। आप रजोगुण से ब्रह्मा का रूप रख कर चर अचर तथा स्थावर जंगम जगत् को बनाते हैं। सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होते हैं! बढ़ी हुई सृष्टि की रक्षा के निमित्त सतोगुण प्रधान विष्णु रूप से उसका पालन करते हैं और अन्त में तमोगुण प्रधान रुद्ररूप रख कर इस सबका संहार भी आप ही कर देते हैं। यद्यपि इन तीनों में कोई अन्तर नहीं, कोई भेद नहीं, सब आप का ही खेल है। आप ही विविध भाँति की अद्भुत अद्भुत आश्चर्य जनक लीलाओं के निमित्त रूप रख लेते हैं, और उनसे लोकोत्तर कार्य करते हैं, फिर भी जो आप के सात्विक अनन्य भक्त हैं, उन्हें तो आपकी सत्व मयी मूर्ति ही शान्ति प्रदान करनेवाली होती है। अन्य मूर्तियाँ तो कोई मोह प्रदान करती है, कोई भय तथा दुःख देनेवाली होती

ही आपके रूप हैं। इनसे आप जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के निमित्त, माया के आश्रय लीला करने के लिये विविधरूप धारण करते हैं, फिर भी इन सब में मनुष्यों के लिये आपकी सत्वमयी मूर्ति ही शान्ति प्रदान करनेवाली है। अन्य रजोगुणी तमोगुणी मूर्तियाँ जिनसे दुःख मोह तथा भय प्राप्त होता हो, वे शान्ति प्रदान नहीं कर सकतीं।

हैं। अतः सात्वत भक्त सदा विविध उपचारों से आप परम सत्व युक्त सर्वेश्वर सर्वाधार सर्वनियन्ता परात्पर प्रभु की उपासना करते हैं आपकी इस मूर्ति के दर्शनों से ही परम शान्ति मिलती है।

इसलिये हे विश्वेश्वर ! हे भगवन् ! जो विचक्षण पुरुष हैं। जिन्होंने त्याग और तपस्या को ही सर्वोपरि माना है, वे परम त्यागी विरागी भगवत भक्त आपकी इस तपस्या की प्रतीक विशुद्ध नारायण मूर्ति का तथा आपके भक्तों की अत्यन्त प्रिय उपासकों की प्रतीक आपकी इस विशुद्ध नर मूर्ति का ही भजन करते हैं। इन्हीं का ध्यान तथा अर्चना करते हैं। इन युगल मूर्तियों के ध्यान से भक्तों को दिव्य वैकुण्ठादि लोकों की प्राप्ति होती है। आपके परम धाम में उनका प्रवेश होता है जहाँ जाकर उन्हें इस जगत् में पुनः लौटना नहीं होता। जहाँ परमानन्द तथा अभय की प्राप्ति होती है। जो जीव का परम पुरुषार्थ है। उस दिव्याति दिव्य सुख की उस अलौकिक अद्भुत आनन्द की प्राप्ति आपके इस सत्वमय स्वरूप से ही संभव है। अन्य किसी भी रूप से उस सुख की उपलब्धि असंभव है।

प्रभो ! आप घट घट वासी हैं। सबके अन्तर की जाननेवाले हैं। कोई अणुमात्र भी ऐसा स्थल नहीं है, जहाँ आप न हों। आप सभी स्थलों में समान रूप से व्याप्त हैं। कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो आपसे रहित हो। आप सबके स्वरूप हैं। जैसे मृत्तिका के बने चाहे जितने प्रकार के लाखों करोड़ों पात्र क्यों न हों, किन्तु ऐसा एक भी पात्र नहीं जिसमें ऊपर नीचे भीतर ऊपर मिट्टी व्याप्त न हो। सभी मृत्तिका के ही रूप हैं, उसी प्रकार सभी चर अचर देहधारी सर्वथा आपके ही स्वरूप हैं।

हे जगत् गुरो ! सबके गुरु, गुरुओं के भी गुरु आप ही हैं,

जो गुरु रूप से अनन्य भाव से आपका ही भजन करते हैं, उन्हें उनकी भावनानुसार अवश्य वैसा ही फल मिलता है। आप अपने शरणागत के समस्त पाप संताप तथा संशय, भ्रम को हर लेते हैं, इसी कारण आप जगत्गुरु कहलाते हैं।

हे स्वामिन् ! जगत्में ३३ कोटिदेवता हैं, एकसे एक बढ़कर ज्येष्ठ श्रेष्ठ देवता हैं, किन्तु सब देवों के भी देव-परम देव-तो आप ही हैं। आप निर्मल तथा निष्क्रिय हैं। आपका अमल विमल रूप है, अतः आप शुद्ध स्वरूप कहलाते हैं। आप ही सरस्वती के प्रेरक हैं। सभी की वाणी के नियामक हैं। यह जो वैदिक मार्ग है, आप के द्वारा ही प्रवृत्त हो रहा है। ऐसे आप काम को भी बिना क्रोध किये हुए परास्त करनेवाले भगवान् नारायण के तथा समस्त नरों में श्रेष्ठ नर ऋषि के पादपद्मों में हम श्रद्धा भक्ति के साथ प्रणाम करते हैं।

हे ज्ञान स्वरूप प्रभो ! घर में सभी वस्तुयें रखी हैं, किन्तु तम के कारण वे दिखायी नहीं देतीं। प्रकाश होने पर वे सबकी सब दिखायी देने लगती हैं। प्रकाश होने पर वे कहीं अन्यत्र से नहीं आतीं, वहीं थीं किन्तु तम के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती थीं। इसी प्रकार इन्द्रिय रूप में भी आप विद्यमान हैं, प्राण भी आपके ही स्वरूप भूत हैं, हृदय में भी आपही हृदयेश होकर विराजमान हैं, तथा देह प्राण मन सभी रूप से आप प्राणिमात्र में विद्यमान हैं, किन्तु आपकी दैवी गुणमयी इस माया रानी के द्वारा मोहित हुआ प्राणी कपटयुक्त इन्द्रियों के विक्षिप्त हो जाने से अज्ञानान्धकार के कारण आपको देख नहीं सकता। आपका साक्षात्कार नहीं कर सकता। किन्तु जब उसी को आपके द्वारा प्रवर्तित वेद ज्ञान हो जाता है, आप उसे बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं, कृपा करके आप उसे वरण कर लेते हैं, तब वह आपका साक्षात्कार कर लेता है।

प्रभो ! आप ही वेद रूप हैं। वेदों में आपके रहस्य को प्रकट करनेवाला ज्ञान कहा गया है। आप जिसे बता दें वही आपको जान सकता है, नहीं तो बड़े बड़े देवगण, ब्रह्मा तथा रुद्रादि महा-मनीषी भी कभी कभी मोह को प्राप्त होते देखे गये हैं। आप सम्पूर्ण मतों के अनुकूल देह तथा रूप धारण कर लेते हैं, आपको जो जिस भाव से भजते हैं आप उन्हें उसी भाव के दर्शन देते हैं। आप विशुद्ध विज्ञान स्वरूप हैं, ज्ञान के प्रवर्तक आप ही हैं। आप महापुरुष हैं, परम पुरुष हैं परात्पर पुरुष हैं ऐसे पुरुषोत्तम के पादपद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! जब महर्षि मार्कण्डेय जी ने नर नारायण भगवान की इस प्रकार स्तुति की तो भगवान् ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा। तब मार्कण्डेय जी ने भगवान् की माया के दर्शनों की इच्छा की। भगवान् ने भी प्रलय का दृश्य उपस्थित करके मुनि को अपनी माया के दर्शन कराये। इसके अनन्तर भगवान् शङ्कर ने जैसे मुनि को दर्शन दिये और मुनिवर ने जैसे शङ्कर जी की स्तुति की, उस प्रसंग को मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

माया मोहित मनुज निकट बसि तुम्हें न देखें।
अति प्रान हिय बसौ तऊ नहिं मूरख पेखें॥
देहिं ज्ञान जब नाथ हिये में देउ दिखाई।
प्रकृति पुरुष करि योग बिकट माया फैलाई॥
मोहित होवें रुद्र अज, वेद रूप विज्ञान मय।
परम पुरुष प्रभु परावर, बन्दौं तव पद दें अभय॥

पद

प्रभु की सत्व मूर्ति अति प्यारी।
करें विविध विधि अनुपम लीला भवभय हरिवेवारी ॥ १ ॥
नर नारायन मूर्ति मनोहर, थिति पालन संहारी।
आत्मानंद अभय पद देवें, वैकुण्ठहुँ सुखकारी ॥ २ ॥
सर्वरूप सब थल में व्यापक, अच्युत अज असुरारी।
रहौ समीप अज्ञ नहिँ पेखें, महिमा जग विस्तारी ॥ ३ ॥
सुर मुनि अज हर मोहित होवेँ, प्रभु मनहर वपुधारी।
सब तजि चरन शरन में आवें, विनती करें तुम्हारी ॥ ४ ॥

श्री मार्कण्डेय मुनि द्वारा शिवजी की स्तुति

(१३६)

तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने ।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १० अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

मुनिवर माया लखी शिवा सँग शिव तहँ आये ।
करन कृतारथ मुनिहिँ प्रेम तैं हरि बतराये ॥
बोले—'तुम मुनि धन्य तीर्थ हो तप वपु धारी ।
जगत कृतारथ होहि वन्दि पद धूरि तिहारी ॥
मार्कण्डेय कहें प्रभो ! अधमनिकी इस्तुति करें ।
सिखवें धरमाचरन करि, सदाचार सब सिर धरें ॥

भक्त और भगवान् दोनों ही परस्पर में एक दूसरे का आदर करते हैं, एक दूसरे की स्तुति करते हैं। भक्त तो भगवान् को

---

* शिवजी की स्तुति करते हुए मार्कण्डेय मुनि कह रहे हैं—"जो त्रिगुणात्मक होते हुए भी गुणों के नियन्ता, केवल, अद्वितीय, गुरुरूप ब्रह्ममूर्ति हैं, उन भगवान् शिव को नमस्कार है ।

अपना इष्ट तथा पूज्य मानते हैं, इसी प्रकार भगवान् भी भक्त को अपना पूज्य मानते हैं यह बात भगवान‌ने अम्बरीष दुर्वासाके संग में स्पष्ट की। बिना स्तुति पूजा किये कोई रह नहीं सकता। भक्त तो भगवान् की पूजा स्तुति करते ही हैं। किन्तु जब भगवान् की पूजा करने की इच्छा होती है, तो वे किसकी करें, अतः वे अपने भक्तों की ही पूजा स्तुति करते हैं। यही भक्त भगवान् का सनातन सम्बन्ध हैं। इसलिये गाने के लिये-स्तुति के लिये-दोही हैं। या तो हरि या उन हरि के दास-प्रपन्न भगवत्-भक्त।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महामुनि मार्कण्डेय जी को माया के दर्शन हो गये, तो एक दिन घूमते फिरते पार्वतीजी के साथ वृषभ पर चढ़े हुए भगवान् शङ्कर मुनि के आश्रम पर पहुँचे। पार्वती ने कहा—"प्रभो! आप इन तपस्वी मुनि को अपना दर्शन दें, इन्हें कुछ वर दें।"

शिवजी ने कहा—"प्रिये! ये परम भगवत्भक्त तपस्वी त्यागी मुनि कभी कोई इच्छा करते ही नहीं। फिर भी मैं साधु समागम के लोभ से इनसे बातें करूँगा। ऐसा कहकर शिवजी ने मुनि को दर्शन दिये। मुनि ने विधिवत् भगवान् भवानीनाथ की पूजा की और स्तुति करते हुए कहा—प्रभो! आप निर्गुण हैं, सदा सर्वदा शान्त रहते हैं प्राणीमात्र को सुख देनेवाले हैं, आप त्रिगुणमय होते पर भी अघोर हैं। ऐसे आप अघोर रूप अखिलेश को बारम्बार प्रणाम है।"

इसके उत्तर में शिवजी ने कहा—अरे, मुनिवर! तुम मुझे क्या नमस्कार कर रहे हो, नमस्कार योग्य तो आप जैसे त्यागी विरागी परम भगवत् भक्त ब्राह्मण ही हैं। आप तीर्थ स्वरूप हैं। मैं तो समझता हूँ आप इन तीर्थों से भी अधिक श्रेष्ठ हैं। उनसे भी अधिक पूजनीय हैं। देखो, जल से भरे जलाशय, धातु तथा

पाषाणादि की मूर्तियाँ ये ही तीर्थ नहीं हैं। ये स्थावरतीर्थ तो बहुत दिनों में पवित्र करते हैं, परन्तु यह साधु रूप तीर्थ तो दर्शन से ही पवित्र करते हैं। आप तपस्वी ब्राह्मण गण तपस्या और संयम द्वारा चित्त को एकाग्र करते हैं, स्वाध्याय और सत्याचरण द्वारा अपने अन्तःकरण को पवित्र करते हैं, फिर हमारा शरीर रूप जो यह वेदत्रयी है, उसे अपने में धारण करते हैं। ऐसे वेदज्ञ ब्राह्मणों को बारम्बार नमस्कार है, उन्हें पुनः पुनः प्रणाम है।

आप विप्रगण परमपावन हैं। आपके यश श्रवण से तथा आपके दिव्य दर्शनों से महापापी से महापापी, महापतित से पतित चाण्डाल तक शुद्ध हो जाते हैं। जो लोग आपसे सम्भाषण करते हैं, आपका सत्संग करते हैं, उनके पावन होने में तो संदेह क्या ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब स्वयं साक्षात् शिवजी ने तपस्वी ब्राह्मणों की अपने श्रीमुख से इतनी स्तुति की, उन्हें बार-म्बार नमस्कार किया, तब तो महामुनि मार्कण्डेय भौचक्के से रह गये। वे बड़ी नम्रता के साथ विनयपूर्वक भगवान् सदाशिवकी स्तुति करते हुए कहने लगे—"भगवन्! हम तो आपकी चेष्टा कुछ समझ ही नहीं सकते आप ईश्वरों की लीला बड़ी दुर्बोध होती है। आप स्वयं भगवान् होकर हम साधारण जीवों की स्तुति करते हैं। ऐसा लगता है आप सर्व साधारण जनों को शिक्षा देने के निमित्त ऐसा कह रहे हैं। आप हमें नमस्कार प्रणाम कर रहे हैं इससे आपके स्वरूप में किसी प्रकार दोष नहीं आ सकता।

प्रभो! आप कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं। फिर भी आप कर्ता भोक्ता के सदृश प्रतीत होते हैं। जैसे स्वप्न में न घोड़ा है, न हाथी, न राज्य और न धन, किन्तु स्वप्न द्रष्टा इन सबकी स्वप्न में स्वयं ही सृष्टि कर लेता है और फिर स्वयं उनका उपभोग करता हुआ-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार आप भी इस त्रिगु-

णात्मक जगत् को अपने मन से ही बनाते हैं और इसमें अनुप्रविष्ट से हुए, गुणों की हुई क्रिया से स्वयं कर्ता के समान प्रतीत होते हैं। ऐसे आप त्रिगुणात्मक होने पर भी गुणों के नियन्ता, केवल, अद्वितीय, ब्रह्मस्वरूप जगद्गुरु भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम है।

हे भूमन्! आप कहते हैं—वर माँगो, वर माँगो, मैं अल्पज्ञ भला आपसे क्या वर माँग सकता हूँ, आप तो वांछाकल्पतरु हैं। प्राणियों की सभी प्रकार की इच्छाओं को कामनाओंको पूर्ण करने वाले हैं। आपके दर्शनमात्रसे ही प्राणी सर्वानन्दमय आप्तकाम हो जाता है, ऐसे आप सर्वदाता कामनाकल्पतरु के दर्शन होना क्या यथेष्ट नहीं? आपके दर्शनों के पश्चात् भी माँगने को कुछ शेष रह जाता है क्या?

यदि भगवन्! आपका कुछ माँगने का ही आग्रह है, आप भक्तानुग्रहकातर कहाते हैं, आप पर बिना कुछ दिये रहा ही नहीं जाता, तो हम आपके चरणारविन्दों में एक हो वर माँगते हैं, कि हमारी भगवत्पादारविन्दों में अविचल भक्ति हो। साथ ही आपके भक्तों में भी हमारी भक्ति हो और आप विश्वनाथ पूर्णकाम पार्वतीपति के पादपद्मों में भी हमारी अविचल, निष्कपट तथा अहैतुकी भक्ति हो। यही हमारी अन्तिम कामना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मार्कण्डेयजी के मुख से ऐसी स्तुति सुनकर भगवान् सतीपति परम प्रसन्न हुए, उन्होंने मुनि को अजरामर होने का, कल्पान्त आयु का तथा भगवत्भक्ति का वर दिया। और उन्हें पुराणाचार्य बनाकर सभी कामनाओं की पूर्ति का आशिर्वाद दिया। यह मैंने महामुनि मार्कण्डेय द्वारा की गयी शिवजी की स्तुति तथा शिवजी द्वारा की गयी ब्राह्मणों की स्तुति

कही। अब अन्तिम स्तुति और करके इस स्तुति प्रकरणको समाप्त करूँगा।

छप्पय

स्वपन सरिस रचि जगत् लखें करता सम भगवन्।
गुननि नियामक नाथ स्वयं निरगुन नहिं बन्धन॥
दरसन करि हम भये कृतारथ, सब अघ धोये।
भक्त और भगवान् आपु चरननि रति होये॥
अखिलभुवनपति उमापति, जिन शिव शङ्कर नाम है।
शिवा सहित प्रभुपदनि में, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम है॥

पद

करें हर कैसे विनय तिहारी।
सुख स्वरूप सर्वज्ञ सर्वगत, सब जग के संहारी॥१॥
ज्ञान रूप तुम घट घट वासी, सीमित बुद्धि हमारी।
दया दृष्टि तैं हरो अविद्या, हे शङ्कर त्रिपुरारी॥२॥
निरगुन शान्त त्रिगुनमय स्वामी, हो तुम लीलाधारी॥
पालो रचो फेरि संहारो, बनि अज रुद्र मुरारी॥३॥
पुनि पुनि चरन सरोरुह बन्दौं, माँ गिरिराज कुमारी।
जननी जनक स्वयं शिशु सम्मुख, आये जग सुखकारी॥४॥

—:)o(:—

अन्तिम-स्तुति

(१४०)

नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥१

(श्रीभा० १२ स्क० १३ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

हरि, अज, नारद, व्यासदेव शुक, नृपति परीक्षित ।
क्रम क्रमतें जो ज्ञान मिल्यो निरमल सतचित हित ॥
परम सत्य ऋत अमृत ध्यान नित करें समाहित ।
वासुदेव, शुक चरन करें वन्दन चितवें चित ॥
नाम कीरतन अघहरन, प्रनत होहिँ दुख दूर सब ।
तिनि पद पदुम प्रनाम करि, लेवें प्रभु बिश्राम अब ॥

भगवान् ज्ञान स्वरूप हैं, भगवान् गुरु रूप हैं, भगवान् और भगवान् के नाममें कोई अन्तर नहीं। भगवान् और उनकी लीला एक ही हैं, भगवान् और उनका धाम तद्रूप हैं। इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वन्दन करना, भगवान्

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिन श्रीहरि का नामसंकीर्तन सभी प्रकार के पापों का नाश करने में समर्थ है। जिनको प्रणाम करने से सभी प्रकार के दुःख शान्त हो जाते हैं, उन परमपुरुष श्रीहरि के पादपद्मों में अंतिम प्रणाम है।

की लीलाओं का स्मरण चिन्तन करना, भगवान् के परम पावन विशुद्ध धाम का स्तवन करना तथा भगवान् के नाम का कीर्तन स्मरण करना यह सब भगवान् की ही स्तुति है। सबसे अंतिम साधन है भगवन्नाम संकीर्तन, अतः सबसे अंत में जिनका पवित्र नाम सभी कल्मषों को नाश करने वाला है, उन नामी श्रीहरि का स्तवन करके इस स्तुति प्रकरण की समाप्ति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैंने अपनी मति के अनुसार भागवती स्तुतियों का आपके सम्मुख वर्णन किया। अब अंत में मैं अपनी संप्रदाय परम्परा प्राप्त गुरुओं की, भगवान् वासुदेव की, अपने गुरुदेव भगवान् शुक की तथा भगवान् के नाम संकीर्तन की स्तुति करके इस प्रकरण को समाप्त करता हूँ।

मुनियो ! यह जो विशुद्ध भागवत ज्ञान है, किसी व्यक्ति का बनाया नहीं है। यह परम्परा प्राप्त सनातन विशुद्ध ज्ञान है। यह मनुजकृत नहीं है, और न मनुज स्वतः इसे जान ही सकता है। यह भगवान् का ही ज्ञान है और जिसे वे पात्र समझकर वरण करलें उसी के सम्मुख इसे बताते हैं। ऐसे विशुद्ध विज्ञान घन श्रीहरिके पाद पद्मों में प्रणाम है। उनके चरणारविन्दों में नमस्कार है।

श्रीहरिने इस अतुल ज्ञान प्रदीप का संसार में प्रसार करना चाहा। जिससे माया का तम हटकर प्रकाश हो जाय। उनको सबसे योग्य पात्र अपने आत्मज कमलयोनि ब्रह्माजी ही

दिखायी दिये, अतः उन्होंने योग्य अधिकारी समझकर भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा जी के प्रति इसे प्रेम पूर्वक प्रकट किया, अतः ज्ञान के आदि प्राप्त कर्ता प्रजापतियों के भी पति वेदगर्भ भगवान् कमलयोनि के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

भगवान् ब्रह्माजी ने भी इस ज्ञान को किसी सुयोग्य पात्र को देना चाहा। उन्हें हाथ जोड़े सम्मुख हरि गुण गाते वीणा बजाते नैष्ठिक ब्रह्मचारी महर्षि नारदजी दिखायी दिये। अतः ब्रह्माजी ने इन्हें सत्पात्र और सत्पुत्र समझकर इस विशुद्ध ज्ञान को उनसे कहा। उन पर्यटनप्रिय लोकानुग्रहकातर देवर्षि नारद जी को वारम्बार नमस्कार है

नारदजी ने भी बदरीवन में विचार किया कि इस विशुद्ध भागवत ज्ञान को किसे दूँ। इस भागवतामृत को किसे पिलाऊँ वे यह सोच ही रहे थे कि उन्होंने भगवान् वेदव्यास को अत्यन्त ही पिपासित पाया। वे इसकी इच्छा ही कर रहे थे। नारदजी ने सोचा इनसे बढ़कर सत्पात्र अब कौन मिलेगा। अतः उन्होंने इस परमपावन ज्ञान को कृष्णद्वैपायन व्यासदेव को सिखाया, उन ज्ञानावतार सत्यवतीनंदन पराशरपुत्र भगवान् व्यास के पाद पद्मों में प्रणाम है।

व्यासजी ने भी देखा इस ज्ञान को साधारण मनुष्य धारण नहीं कर सकते। जिसकी वाणी मधुर हो और जो वन चारी फलाहारी ब्रह्मचारी हो, वही इसे धारण कर सकता है। सम्मुख उन्होंने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक को देखा। तुरन्त

उन्होंने इस भागवतामृत को शुक मुखमें उड़ेल दिया। उन व्यासनन्दन परमभागवत् परमहंसचक्रचूड़ामणि भगवान् शुक के पादपद्मों में प्रणाम है।

शुकदेवजी ने देखा संसार सर्प सभी को डस रहा है। चक्रवर्ती महाराज परीक्षित् इस संसार सर्प से संत्रस्त होकर सुरसरि के किनारे दुखी बैठे हैं, तो उन करुणा के सागरने परदुख से द्रवित होकर महाराज परीक्षित् को सर्प से निर्भय बनाने को यह ज्ञानामृत उन्हें पिलाया और उन्हें निर्भय बनाया। ऐसे देवरात महाराज परीक्षित् का भी हम अभिनन्दन करते हैं। उनकी भी श्रद्धा के साथ वन्दना करते हैं।

मुनियो! उस विशुद्ध, निर्मल शोक रहित ज्ञान को मैंने भी शुक समाज में बैठकर अपने गुरुदेव के मुखसे सुना। आप सबने मेरे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह करके महती कृपा करके अपने प्रश्नों द्वारा मुझसे भी कहला लिया, अतः आप सब भी वन्दनीय हैं, यह आनन्दामृत परमसत्यस्वरूप ज्ञान है, उस अनुपम ज्ञान का हम सब मिलकर ध्यान करते हैं, सभी उसका वन्दन करते हैं।

भगवान् वासुदेव ही इसके आद्याचार्य हैं। इसीलिये यह ज्ञान वासुदेवीय ज्ञान कहलाता है। भगवान् के द्वारा प्राप्त होने से ही इसका नाम भागवत ज्ञान भी है। मोक्ष के सम्बन्ध में संशय में पड़े ब्रह्माजी को ज्ञान सिखाकर जिन्होंने उनके संशय को दूर किया। उन्हें इस ज्ञानग्रन्थको सुनाया उन सर्वसाक्षी

भगवान् वासुदेव को भूयो भूयो प्रणाम है, वारम्वार नमस्कार है।
जिन मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित् को निर्भय बनाया, संसार सर्प से संत्रस्त होने के कारण दुखी बने नरपति के दुःख को भगाया उन साक्षात् ब्रह्मस्वरूप योगिराज शुक के चरणारविन्दों पुनः पुनः प्रणाम है।

हे जगदाधार! हे सच्चिदानन्द स्वामी! हे देवेश्वर! हे प्रभो! अन्त में हमारी आपके चरणों में यही भीख है, यही याचना है कि हम चाहे जिस योनि में जन्म लें, जितनी बार जन्म लें, जहाँ भी जन्में, जिस योनि में भी जायं, वहीं पर आपके चरणारविन्दों में हमारी अविचल अव्यभिचारिणी भक्ति हो। प्रभो! आपसे ही हम प्रार्थना कर सकते हैं, क्योंकि आप ही एक मात्र हमारे स्वामी हैं, हमारे सर्वस्व हैं।

प्रभो! आप से जिस वस्तु का भी सम्बन्ध है, वही सबको पावन बनाने में समर्थ है। भगवती गंगा जी का आपके चरणों से संपर्क हुआ था अतः वे त्रैलोक्य को पावन बनाने में समर्थ हैं। आप अनामी के जो परम प्रिय श्रुतमधुर नाम हैं। उनका जो कीतन करते हैं, समाज के साथ उच्चस्वर से संकीर्तन करते हैं, वह नाम संकीर्तन सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने में समर्थ है। जो कोई आपके चरणारविन्दों में प्रणाम कर लेता है, उसके समस्त दुःख, दोष, दुरित दूर भाग जाते हैं, वह सभी आपत्ति विपत्तियों से सदा के लिये बच आता है। उसकी सभी आपदायें शान्त हो

जाती हैं। ऐसे आपनामी को मेरा वारम्वार नमस्कार है पुनः पुनः प्रणाम है।

मुनियो! आप धन्य हैं, जो आपने यह भागवती कथा शान्तचित्त से दत्तचित्त होकर सुनी। मैं आप सबका परम-कृतज्ञ हूँ। अब इस समय मेरा मन अपने परमगुरु भगवान् व्यास के आश्रम, नरनारायण के धाम बदरीवन को जाने के लिये उत्सुक हो रहा है। आप मुझे कुछ दिन के लिये आज्ञा दें, मैं कुछ घूम फिर आऊं। चित्त को हलका कर आऊँ। आप सबकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है।

शौनकादि मुनियों ने कहा—"सूतजी! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं। महाभाग! हम तो आपके मुख से कथा सुनते सुनते अघाते ही नहीं। समय कब बीत जाता है पता नहीं चलता। आपके कारण हमारा समय बहुत सुखपूर्वक कट रहा है। बड़ा सुंदर कालक्षेप हो रहा है। आपके बिना हमें कथा कौन सुनावेगा? कैसे समय बीतेगा? महाभाग! हम आपको बलपूर्वक रोक भी तो नहीं सकते। आप यहाँ की गर्मी से ऊब कर शीतल प्रदेश में कुछ दिन के लिये जाना चहते हों तो जायँ, किन्तु शीघ्र ही लौट आवें।

सूतजी ने कहा—मुनियो! जीव स्ववश नहीं परवश है। भगवान् जिसे जैसे नचाते हैं वैसे नाचता है। जहाँ रखना चाहते हैं रहता है, वहाँ जो कराना चाहते हैं करता है। अतः मैं भी उन्हीं सर्वाधार सर्वान्तर्यामी श्रीहरि के अधीन हूँ। जैसे रखेंगे वैसे रहूँगा। जो करायेंगे करूँगा। अच्छा तो मेरी आप सब को प्रणाम है, नमस्कार है। पुनः पुनः वन्दना है।

ओं शांति! शांति!! शांति!!!

छप्पय

प्रभो ! कृपा अब करहु चरन कमलनि लपटाओ ।
भगवन् ! भटक्यो बहुत नाथ ! नहिं अब भटकाओ ॥
भवसागर में भ्रमत चपेटा बहुतक खाये ।
इत उत वतरत फिरयो विविध विधि दुःख उठाये ॥
चरन शरन अब तो गही, प्रभुजी अब अपनाइलें ।
जनम जनम निज भक्ति दैं, निश्छल भक्त बनाइलें ॥

पद

भक्ति प्रभु ! निज चरननि की दीजै ।
भग्यो भग्यो भव भयतैं डोलूँ, नाथ ! अभय अब कीजै ॥१॥
विषय भोग धनसुख नहिं चाहूँ, चरन शरन अब लीजै ।
जनम मरन चाहैं नहिं छूटैं, हियो भक्तितैं भीजै ॥२॥
सोई करूँ काज करुनाकर, अन्तःकरन पसीजै ।
प्रभु अब दया दीनपै कीजै, नित्य भागवत पीजै ॥३॥

इति भागवती स्तुति समाप्त
श्रीकृष्णार्पणमस्तु-न मम

अन्तिम स्तुति

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥१॥

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा,
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यतः,
तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥२॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे ।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे ॥३॥

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे ।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत् ॥४॥

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते ।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥५॥

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥६॥

कालाय तस्मै नमः

(६९ वें खण्ड की भूमिका)

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥*
(श्रीभा० १० स्क० १६ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

कृष्ण काल बनि करें कलित क्रीड़ा सुखकारी।
भव्य भाव भरि उतरि अवनि पै भवभयहारी॥
भक्तनि संसृति मेटि अभक्तनि नाच नचावें।
करि विनोद विश्वेश जगत में हँसे हँसावें॥
उतपति थिति लय करहिँ प्रभु, भिन्न भिन्न जिनि नाम हैं।
कालरूप तिनि कृष्ण पद, पदुमनि माँहिँ प्रनाम हैं॥

विश्वेश्वर प्रभु का कोई एक रूप नहीं। वे बहुरूपिया हैं, असंख्य रूप हैं "अनेक रूप रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।" भगवान्

---

* नागपत्नियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—"प्रभो! आप काल स्वरूप हैं, कालशक्ति के आश्रय हैं, कालके जो अवयव कलाकाष्ठा तथा सृष्टि प्रलय तक का काल उस सबके साक्षी हैं, आप विश्वरूप हैं, विश्व के साक्षी आप हैं, विश्व के कारण तथा कर्ता भी आप ही हैं।"

के अनेक रूपों में उनका एक रूप "काल" भी है। जब भगवान् ने कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया तो अर्जुन अत्यंत घबरा गये, वे भयभीत होकर पूछने लगे—"हे देवताओं में श्रेष्ठ! आप हैं कौन? आप करना क्या चाहते हैं? आपका तो बड़ा उग्ररूप है? अपना परिचय तो मुझे दीजिये?"

इस पर भगवान् ने अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं काल हूँ।"

जब हम भगवान् को काल रूप में समझने लगेंगे, तो हमें किसी भी घटना से न दुःख होगा और न विस्मय, हमें यह सब काल भगवान् की क्रीड़ा दिखायी देगी। इस सम्बन्ध में एक कहानी है। किसी भक्त ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! आप करते क्या हैं?"

भगवान् ने कहा—"मैं क्रीड़ा करता रहता हूँ।"

भक्त ने पूछा—"क्या क्रीड़ा करते हैं नाथ! किससे क्रीड़ा करते हैं? और क्यों क्रीड़ा करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"क्रीड़ा खिलौनों से होती है, ये समस्त चराचर जीव ही मेरे खिलौने हैं, क्रीड़ा में क्यों का प्रश्न ही नहीं उठता। क्रीड़ा क्रीड़ा के ही लिए होती है, विनोद के लिए मनोरंजन के लिए। मेरी क्रीड़ा को विनोद मनोरंजन भी नहीं कह सकते। जिसे विषाद हो वह विनोद में प्रवृत्त हो, जिस के मन में खेद हो वह मनोरंजन की इच्छा करे। मैं तो वैसे ही खेलता रहता हूँ, लीला करता रहता हूँ, मेरा स्वभाव ही लीला करने का है। मैं लीलाधारी हूँ, बहुरूपिया हूँ, विविध रूप रख लेता हूँ, जीव अपने को खिलौना न मान कर जब स्वयं कर्ता बन जाते हैं और मेरे कामों में निजत्व का आरोप करके जब बहुत रोने लगते हैं, तब भी मेरा

विनोद होता है, सुख में हँसने लगते हैं, तब भी मेरा विनोद होता है। जैसे बच्चे खिलौने से प्यार करते हैं तब भी प्रसन्न होते हैं और उसे उठाकर पटक देते हैं, फट से फोड़ देते हैं, तो फोड़ने में भी उन्हें आनन्द आता है। इसी प्रकार सभी प्रकार की चेष्टायें मेरे मनोविनोद का साधन हैं। चलो मैं कैसे क्रीड़ा करता हूँ तुम देखो।

यह कह कर भक्त और भगवान् चल दिये। कहना न होगा दोनों अदृश्य रूपसे चले। आगे चल कर देखा नदी में एक नौका आ रही है, भगवान् तुरन्त सर्प बनकर नौका में चढ़े सर्प को देखकर सभी यात्री भयभीत हो गये नौका उलट गयी। सब जल में डूब गये। भगवान् हँस पड़े। भक्त ने लोगों के मुख से सुना— सब का काल आ गया था।" किन्तु कहने वाला यह नहीं समझ सका कि काल रूप मे भगवान् ही आते हैं।

आगे चल कर देखा दो सगे भाई कहीं से आ रहे हैं। दोनों ही राज कर्मचारी थे, भगवान् तुरन्त मोहिनी रूप रखकर उनके पीछे लग लिए। दोनों के ही मन में तूफान उठने लगा। प्रश्नों की झड़ी लग गयी। किन्तु रंगीली मोहिनी तो बड़ी लजीली भी थी। कटाक्ष उसके ऐसे पैंने थे कि समस्त अस्त्रशस्त्र उसके सामने कुंठित हो जाते थे। सब प्रश्नों के अनन्तर उसका छोटा-सा संक्षिप्त उत्तर था। "मैं मातृ-पितृ विहीना कुमारी कन्या हूँ, तुम में से कोई भाई मुझे आश्रय देकर अपनी जीवनसंगिनी बना लो जिससे मेरा निर्वाह हो जाय।" इतना सुनना था कि होने लगा दोनों भाइयों में युद्ध। पहिले तो वाक्‌युद्ध हुआ। छोटा कहता—मैंने पहिले इसे देखा है, मन से वरण किया है, अब यह तुम्हारी पुत्री के समान है।" बड़ा कहता—"मेरे रहते तुझे विवाह करने का अधिकार ही

नहीं, मैं बड़ा हूँ मैंने इसे पहिले ही वरण कर लिया है, यह तेरी माता के समान है।" वाक्युद्ध के अनन्तर शस्त्र युद्ध आरम्भ हुआ। एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। दोनों ही मर कर धराशायी हुए। लोग कह रहे थे—"यह काल रूप से कहाँ से आ गयी। बेचारे दोनों सगे भाई इसीके कारण काल कवलित हुए।" वे लोग यह नहीं जानते थे कि ये काल रूपमें भगवान ही थे।

आगे चल कर, देखा कि कुछ लोग घोर वन में यात्रा कर रहे थे। भगवान् सिंह का रूप रखकर उनके सम्मुख प्रकट हो गये। कुछ तो सिंह को देखते ही भयभीत होकर मर गये, कुछ भाग कर पेड़ पर चढ़ गये, कुछ सिंह के पंजों में फँस कर मर गये। जो बच कर भग गये थे वे कह रहे थे—"सिंह क्या था, साक्षात् काल ही था।" काल तो था ही किन्तु इतना वे और जान जाते कि ये काल रूप में भगवान् ही हैं, तो उन्हें दुःख या विस्मय नहीं होता।"

इसी प्रकार भगवान कहीं शस्त्रधारी बनकर, कहीं वधिक बन कर, कहीं अग्नि बनकर, कहीं विष बनकर और कहीं रोग बनकर क्रीड़ा कर रहे हैं। हम कह तो देते हैं यह सब काल की क्रीड़ा है, किन्तु अन्तर इतना ही रह जाता है, कि हम यह नहीं समझते कि काल भगवान् का ही रूप है। रामायण में, महाभारत में, भागवत में तथा अन्यान्य वेद शास्त्र पुराण तथा इतिहासों में सर्वत्र काल भगवान् की ही क्रीड़ा का वर्णन है।

संसार के समस्त कार्य काल पाकर ही होते हैं। काल पाकर ही सरदी होती है, काल से ही गरमी होती है, काल पाकर ही बालक से युवक और युवक से वृद्ध होते हैं, काल पाकर ही निर्धन से धनी और धनी से निर्धन बन जाते हैं। एक काल वह होता है, कि सब लोग बिना कहे आदर करने लगते हैं, सर्वत्र सम्मान

होता है, फिर ऐसा काल आ जाता है, कि लोग सामने ही अपमान करने लगते हैं और उस कड़वे घूँट को भी इच्छा न रहने पर भी हँसते-हँसते पीना पड़ता है।

अर्जुन का एक वह भी काल था, कि जिन्हें मनुष्यों की तो बात क्या, समस्त देवता असुर मिल कर भी युद्धमें नहीं जीत सकते थे। उन अमोघ अस्त्र-शस्त्रधारी भीष्म, द्रोण तथा कर्णको उन्होंने युद्धमें सरलता से जीत लिया। कितने करोड़ अरब असंख्य बाण उसके ऊपर छोड़े गये। कोई भी दिव्य से दिव्य अस्त्र-शस्त्र उसे क्षति न पहुँचा सका। फिर एक दिन ऐसा भी काल आया कि उसी विश्वविजयी अर्जुन को, किसी शूरवीर बलवान् योद्धा ने नहीं, दिव्य अस्त्रों से नहीं। साधारण लठियों से-वनवासी दस्यु धर्मी लुटेरे गोपों ने जीत ही नहीं लिया भगवान् की पत्नियों को भी उनके देखते-देखते वे छीनकर ले गये और अर्जुन उनका कुछ भी नहीं कर सके। तभी तो किसी ने कहा है।

पुरुष बली नहिं होत है, काल होत बलवान्।
भीलनि लूटी गोपिका, वहि अरजुन वहि बान॥

धनुष बाण से क्या होता है, काल तो उनके विपरीत हो गया था। अनुकूल काल होने पर शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, दुर्बल भी सबल हो जाते हैं, वही काल जब विपरीत हो जाता है, तो अपने भी पराये हो जाते हैं, बलवान् भी निर्बल हो जाते हैं। काल ऐसा बली है, कि इसके सामने किसी की भी नहीं चलती। यह बलियों से भी बली है। भगवान् का रूप ही है।

जब दैत्यराज महाराज बलि के तीनों लोक के राज्य को भगवान् वामन ने अपने दो पगों में नाप लिया और तीसरे पग के लिये वे उसे बाँधने लगे, तब सब दैत्य भगवान् वामन को मारने दौड़े। उस समय दैत्यों को प्रहार करने से रोकते हुए महाराज बलि ने बड़े ही मार्मिक वचन कहे उन्होंने कहा—"हे दैत्य सेनापतियो ! आप लोग देखना भगवान् पर तथा उनके पार्षदों पर प्रहार मत करना। यह समय हमारे अनुकूल नहीं है। ये काल भगवान् ही समस्त प्राणियों को सुख अथवा दुख देते हैं। जब जैसा समय होता है तब तैसे ही बानिक बन जाते हैं। काल देवता को कोई अपने पुरुषार्थ से जीतना चाहे तो यह असंभव है। देखो, एक समय था कि ये काल भगवान् हमारे अनुकूल थे, तब हमने समस्त देवताओं को चुटकी बजाते जीत लिया, तीनों लोकों का राज्य प्राप्त कर लिया, उस समय काल भगवान् देवताओं की अवनति और हमारी उन्नति के हेतु थे। आज वे देवताओं के अनुकूल हैं हमारे प्रतिकूल हैं अब आप चाहो मंत्री, बुद्धि, दुर्ग, मंत्र, ओषधि सामदामादि उपायों से इन काल भगवान् को जीत लें तो असंभव है। ये ही पार्षद जो आज वामन भगवान के सामने अस्त्र शस्त्र लिये तनकर खड़े हैं, तुमने अनुकूल काल होने पर इन्हें अनेकों बार जीत लिया था ये युद्ध से भागे थे। आज काल इनके अनुकूल है अब तुम इन्हें नहीं जीत सकते। इसलिये अनुकूल काल की प्रतीक्षा करो। काल भगवान् हमारे

हो जायँगे तो एक दिन हम इन्हें फिर जीत लेंगे।*

दैत्यराज परम भगवत्भक्त बलिके इन वचनों से पता चलता है, कि काल के सम्मुख कोई भी उपाय, कोई भी युक्ति, कोई भी भाव ठहर नहीं सकते। काल ही सब कुछ कराते हैं, काल ही खेल खिलाते हैं, काल ही फलों को पकाते हैं, काल ही क्रिया कराते हैं काल ही प्रवृत्त कराते हैं, और काल ही निवृत्ति की ओर ले जाते हैं। इसीलिये कविने कहा है

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय।

---

* यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान्॥
यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।
स एव भगवानद्य वर्तते तद् विपर्ययम्॥
बलेन सचिवैर्बुद्‌ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः॥
भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः॥
एतान्वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।
तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते॥
(श्रीभा० ८ स्क० २१ अ० २० से २४ श्लो०)

समस्त शास्त्र, समस्त महापुरुषों के जीवन और समस्त अवतार चरित हमें यही शिक्षा देते हैं, कि काल की शक्ति दुर्निवार है। एक काल वह भी होता है कि हम अपने प्रेमी को बिना देखे एक पलभर भी जीवित नहीं रह सकते, फिर एक काल ऐसा भी होता है। कि समीप रहते हुए भी हम उससे मिल नहीं सकते। यह काल की कैसी क्रूर विडम्बना है। राम जी ने यही तो सोचकर किष्किन्धा में रोते रोते लक्ष्मण से कहा था—"भैया ! लक्ष्मण ! एक वह भी काल था कि वैदेही और हमारे हृदय के बीच में एक हार आ जाता था, तो हम उस हार के व्यवधान को भी सहन नहीं कर सकते थे। आज मेरे और वैदेही के बीच में कितने नगर, देश, वन, पर्वत और समुद्र हैं उनके अन्तरायको भी हम सहन कर रहे हैं। काल की कैसी कुटिल क्रीड़ा है।

मैंने किसी रामायण में तो आज तक यह प्रसंग पढ़ा नहीं किन्तु अपने बाल्यकाल में यह कथा सुनी थी, वनवासी कोल भीलों के लोकगीतों में यह प्रसङ्ग आता है, कि सीताजी की एक ननद थी उस ननद का क्या नाम था। राम जी की एक बहिन महाराज दशरथ की किसी अन्य रानी से शान्ता तो थीं, किन्तु वे ऋषि पत्नी थीं शृङ्गी मुनि से उनका विवाह हुआ था। वे ऐसा नहीं कर सकतीं। कोई दूसरी ननद थी। उसने एक दिन जनकनन्दिनी से पूछा—"भाभी ! तुम इतने दिनों तक लंका में रहीं; यह तो बताओ रावण कैसा था ?"

मैथिली ने कहा—"जीजी ! अब तुम्हें कैसे बताऊँ वह बड़ा राक्षस था उसे देखकर ही डर लगता था।"

उसने बहुत आग्रह किया, तब सीता जी ने भीत पर एक रावण का चित्र बना दिया। दैवयोग से उसी समय रामजी

वहाँ आ गये। महारानी जानकी सहम गईं। तब उसने कहा—"देखो भैया! भाभी का रावण के प्रति कैसा प्रेम है कि अब तक वे उसका चित्र बनाती रहती हैं। यह बात सम्पूर्ण महल में और नगर में फैल गयी। विवश होकर भगवान् ने सीताजी को अपने घर से निकाल दिया। वे गंगा जी के कछारों में भटकती रहीं। वहीं किसी नाले में उनके दो पुत्र हुए। उन पुत्रों को गोदी में लिये वे जंगलों से फल तोड़कर पेड़ों के नीचे रह कर निर्वाह करती थीं। अकस्मात् एक दिन आखेट करते हुए रामजी वहाँ पहुँच गये। अत्यन्त कृशगात्र, मलिन वस्त्र पहिने धूप से काली पड़ी, अपनी प्राणप्रिया को राघवेन्द्र पहिचान गये। वे उनकी ओर दौड़े। वनवासिनी सीता ने कहा—"राजन्! आप मेरा स्पर्श न करें। अब मैं आप के स्पर्श करने योग्य रही नहीं। मुझे कलंक लगा है, मुझ कलंकिनी के स्पर्श करने से आपके विमल यश में धब्बा लगेगा। मैं चाहती हूँ आपकी कीर्ति विमल बनी रहे। इतना सुनने पर भी राम जी से नहीं रहा गया। वे भावावेश में वन विहारिणी जनकनन्दिनी को पकड़ने दौड़े। मैथिली पूरी शक्ति से दौड़ी जिस से राघवेन्द्र उन्हें स्पर्श न कर सकें। जब दोनों अत्यन्त समीप आ गये, तो सीता जी गंगा जी के एक ऊँचे टीले से बड़े भारी नाले में कूद पड़ीं। उनके शरीर का अन्त हो गया।

सौ करोड़ रामायण हैं, किसी न किसी में यह कथा होगी ही परन्तु काल की इसमें कैसी कारुणिक लीला का वर्णन है, जनकनंदिनी के चरित्र को कितना उज्वल बताया गया है, एक वह भी समय था कि भगवान् राम एक क्षणको भी सीताजीका वियोग सहन

नहीं कर सकते थे, फिर उन्होंने ही स्वयं उन्हें निर्वासित कर दिया और जीवन भर उनसे पृथक् ही रहे। यह कथा बंगला की महिला कवियित्रि चन्द्रावती ने अपनी रामायण में भी लिखी है। जैसे हमारे यहाँ तुलसीकृत रामायण प्रसिद्ध है, वैसे ही बंगला में कृत्तिवासकृत रामायण है। उसमें बड़ी अद्भुत अद्भुत कथायें हैं। पूर्वी बङ्गाल में चन्द्रावती की भी रामायण प्रसिद्ध है। मुझे तो उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ नहीं, किंतु उसके उद्धरण मैंने पढ़े हैं। उसमें सीताजी की इस कथा को इस प्रकार लिखा है, कैकेयी की एक पुत्री थी जिसका नाम ककुआ था। वह बड़ी ही कुटिलहृदया थी, वह नाना प्रकार के षड्यन्त्र रचने में बड़ी दक्षा थी। वह एक दिन जनकनंदिनी के समीप गयी और बोली—"भाभी! रावण कैसा था?

जानकीजी ने कहा—"बीबीजी! रावण को तो मैंने भी कभी नहीं देखा, वह जब भी मेरे समीप आता मैं पीठ फेर लेती थी, आँखें मींच लेती थी। हाँ, जब वह मुझे लंका ले गया था, तब मैंने समुद्र के जल में उसकी परछाईं अवश्य देखी थी, उसके दश सिर और २० भुजायें मुझे समुद्र में दिखायी दी थीं।"

ककुआ ने कहा—"इस पंखे पर उसका चित्र बनाओ तो सही।"

भोली भाली सीताजी उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आ गयीं उन्होंने पंखे पर उसका चित्र बनाया। उस ककुआ ने उन्हें इस प्रकार बातों में उलझा लिया कि बातें करते करते उन्हें निद्रा आ गयी। पंखा उनके शरीर से सट गया, वे सो गयीं। ककुआ ने चुपके से श्रीरामचन्द्रजी को बुलाया और सैकड़ों झूठी बातें बनाते हुए कहा—"देखो, भाभी अभी तक रावण को भू—

उसका चित्र बनाकर उसे छाती से चिपटाकर नित्य सोती हैं।" इस प्रकार श्रीरामजी द्वारा सीता निर्वासित हुईं। बङ्गाल की कवयित्री चन्द्रावती की रामायण की वड़ी प्रशंसा है। सुनते हैं उसकी कविता में करुणा का स्रोत फूट निकला है। उसे अनपढ़ मल्लाह आदि भी गाते हैं और गाते गाते रोते हैं। स्वयं चन्द्रावती का जीवन भी काल की एक क्रूर पहेली है। स्वयं उसके जीवन में एक ऐसी घटना घटी कि उसका हृदय पक गया, उसमें बड़ा भारी घाव हो गया। उसी घावमें सराबोर होकर जो कविता निकली हो, वह तो सजीव करुणा ही होगी। काल ने उसके जीवन के साथ भी एक क्रूर परिहास किया। उसका जीवन भी सुनने योग्य है।

पूर्व बंगाल में उसका जन्म हुआ। उसके पिता का नाम था वंशीदास। प्रतीत होता है ये कायस्थ रहे होंगे। इनकी पत्नी का बहुत अल्प समय में शरीरान्त हो गया। चन्द्रावती मातृहीना हो गयी। पिता की एकमात्र संतति थी। माता के मर जाने के अनन्तर पुत्री पिता के अधिक निकट आई, अत्यंत लाड़ चाव से स्नेह ममता से, पिता अपनी इकलौती सन्तान का लालन पालन करने लगे। वे सम्पन्न थे, जाति कुल में प्रतिष्ठित थे, संभ्रात परिवार के थे। चन्द्रावती अत्यंत ही लावण्यवती थी, वह जितनी ही सुन्दरी थी उतनी ही सुशीला थी। अत्यंत संकोची हृदय की। काल क्रम से वह बढ़ती गयी, बढ़ती गयी, शैशव, कौमार, पौगंडावस्थाओं को पार करके अब उसने किशोरावस्था में पदार्पण किया। वह वन में फूल लेने जाया करती थी। वहीं पर उसी गाँव का, उसी की जाति का एक किशोर बालक कभी आता उसका नाम था जयचन्द्र। चन्द्रावती बड़े स्नेह से माला बनाती और संकोच के साथ जयचन्द्र को दे देती। वह माला लेकर चला जाता।

दोनों में कुछ स्पष्ट बातें तो न होतीं, किन्तु मूक भाषा में कुछ तो बातें हो ही जातीं।

एक दिन अत्यंत ही संकोच से उसने चन्द्रावती के हाथों में एक पत्र थमा दिया और वह चला गया। चन्द्रावती ने अनुराग भरित हृदय से, झल झलाये नेत्रों से, कंपित करों से पत्र को खोल कर पढ़ा। उसमें लिखा था—"मैं धृष्टता कर रहा हूँ, अत्यंत डर भी रहा हूँ, सोचता था ऐसी बात तुम्हें न लिखूँ, किन्तु बिना लिखे मुझ से रहा भी तो नहीं जाता। मेरा हृदय दुविधा की चक्की में पिस रहा है। तुम मुझे नित्य माल्य अर्पण करती हो, इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ, उस माला को मैं नित्य रात्रि भर अपने अश्रुओं से सिंचित करता रहता हूँ, जिससे उसके पुष्प अम्लान बने रहें। जब से तुम्हारा अनिर्वचनीय आनन अवलोकन किया है, तबसे निद्रा मुझसे असंतुष्ट होकर चली गयी है। भूख भी नहीं लगती। बात तो असंभव है। बौने के चन्द्र को ग्रहण करने के समान है, फिर भी एक कोने में बैठी आशा मुझे बारम्बार अधीर बनाये हुए है। मैं जानता हूँ, तुम्हारे पिता धनी हैं, प्रतिष्ठित हैं सम्भ्रान्त हैं, तुम उनकी प्राणों से भी प्यारी पुत्री हो एकमात्र संतान हो। इधर मैं मातृ पितृ हीन हूँ, साधन विहीन हूँ मामा के यहाँ रह कर दिन काटता हूँ, तुम्हें पाना असंभव है। इतने पर भी मन मानता नहीं। विवश होकर लिख ही दिया। क्या कभी जीवन में मुझे तुम्हारा दासानुदास बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है?"

चन्द्रावती ने पत्र पढ़ा, एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा बारबार पढ़ा। उसका हृदय भर आया, आखें बहने लगीं। किशोरावस्था में एक सुन्दर किशोर युवक जिससे अनुराग करे, कौन ऐसा नारी

हृदय होगा; जो उस अनुराग की उपेक्षा कर दे। यह दूसरी बात है कि वह उसे शब्दों में व्यक्त न कर सके। प्रायः कुलवती नारी जाति के लिए उसे शब्दों में व्यक्त करना अत्यंत कठिन ही है। पुरुष तो कर भी सकता है, किन्तु पुरुषों से चौगुनी अधिक लज्जा रखनेवाली कुलवती नारी उसे कहे भी तो कैसे कहे।

चन्द्रावती जयचन्द्र को चाहती न हो सो बात नहीं, किन्तु वह कह कैसे सकती थी। दूसरे दिन माता के साथ उसने भी जयचन्द्र के हाथों में एक छोटा-सा नन्हा-सा पत्र थमा दिया। जयचन्द्र को आशा थी, जैसे मैंने उससे प्रार्थना की है, वह भी विस्तार से उसका उत्तर देगी, किन्तु उस पत्र में ऐसा कुछ नहीं था, उसमें इतना ही लिखा—"नारी जाति स्वतंत्र नहीं। मेरे पूज्य पिताजी हैं, वे जो करेंगे वही होगा। मैं क्या जानूँ ?"

किसी भाँति वंशीदास जी को यह बात ज्ञात हो गयी कि मेरी पुत्री जयचन्द्र से अनुराग करती है, वे इस सम्बन्ध को हृदय से चाहते तो नहीं थे, किन्तु इकलौती पुत्री का मन भी मारना नहीं चाहते थे। जयचन्द्र के मामा से बात चीत होने पर दोनों के विवाह की बात पक्की हो गयी। दोनों ओर से विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

जब विवाह के कुछ ही दिन रह गये, तो काल ने अपनी एक अत्यंत ही क्रूर क्रीड़ा दिखायी। जयचन्द्र का प्रेम गंभीर नहीं था, वह छिछला था, वह चन्द्रावती के बाहरी रूप को ही देख सका, उसके अन्तर को स्पर्श न कर सका। वह रूप का ही उपासक था। किसी अत्यंत सुन्दरी यवन कन्या के रूप को देखकर जयचंद्र चन्द्रावती के अनुराग को अपनी याचना को भूल गया। उसने उस यवन कन्या के द्वार पर अपनी झोली फैला दी। वहाँ तो निश्चित उत्तर था—यदि तुम अपने धर्म को छोड़कर विधर्मी बन

जाओ तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो सकती है, धर्म का मूल्य देकर रूप क्रय किया जाता है। रूपाकर्षण में अन्धे हुए जयचन्द ने अपने धर्म का परित्याग कर दिया। उसने उस यवन कन्या से विवाह कर लिया और वह विधर्मी बन गया।

चन्द्रावती की समस्त आशाओं पर तुषारापात हुआ। उसके सभी स्वर्णिल स्वप्न धूमिल बन गये। वह मर्माहत हो गयी। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया--"बेटी! वह तो पथभ्रष्ट था, मैं किसी अत्यंत कुलीन लड़के के साथ तेरा विवाह कर दूँगा।"

शीलवती कुलवती पुत्री अब पिता से अपने मन की बात कैसे कहती--मन तो एक ही है, जहाँ फँस जाता है वहाँ से कठिनता से निकलता है, नहीं भी निकलता है। उसने सरलता से कहा--"पिताजी! विवाह होना ही चाहिये यह कोई आवश्यक ही है क्या? मुझे आप पुत्र ही समझें, मैं आपके चरणों में ही रहकर जीवन को नहीं काट सकती क्या?

पिता कवि थे, अनुभवी थे, सहृदय थे, पुत्री की मर्मान्तक पीड़ा का उन्होंने अनुभव किया। उन्होंने पुनः पुत्री से विवाह का आग्रह नहीं किया। पुत्री का मन कैसे लगे इसके लिए उन्होंने उसे कविता करने का आदेश उपदेश दिया, जिसपर कविता करना आ गया उसे फिर अन्य मनोरञ्जन की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका मन तो सदा कविता लोक में ही विचरण करता रहता है, जिस लोक में इस बीभत्स लोक की भाँति निन्दा नहीं, घृणा नहीं, लांछना नहीं, अपवाद नहीं, असौन्दर्य नहीं। जहाँ सत्यं शिवं सुन्दरं का ही साम्राज्य है।

पुत्री ने पिता के आदेश का पालन किया। उसने रामायण बनायी और भी बहुत से लोकगीत बनाये। पिता ने फूलेश्वरी

नदी के तट पर अपनी ब्रह्मचारिणी तपस्विनी पुत्री के लिए विश्वेश्वर शिव का एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया। तपस्विनी चंद्रावती दिन भर पूजा पाठ में ही लगी रहती। भगवान की पूजा के लिए फूलवन से पुष्प चुनती, विल्व पत्र तोड़ती, माला बनाती। घंटों अर्चना करती और बचे हुए समय में कविता करती। उसे काल कठिनता का बोध ही न होता। काल मंथर गति से चलता जाता। तभी उसके जीवन में फिर एक बड़े वेग का धक्का लगा। फिर एक बवंडर आया और उसकी चोट को वह फिर सहन न कर सकी। वह काल का कवल बन गयी।

जयचन्द्र जिस रूपज्योति में चकाचौंध बना था वह तो मृग तृष्णा थी। कहाँ यथार्थ और परछाई। कहाँ कांच और कहा चैतन्य मणि। जयचंद्र को शान्ति नहीं मिली। उसका मन उसे बारबार धिक्कारता रहता। चन्द्रावती के निरछल निष्कपट प्रेम को याद कर करके वह रोता रहता। अन्त में वह उस लड़की को छोड़कर अपने गाँव में लौट आया। अब उसे जीवन भार-सा प्रतीत होने लगा। ग्लानि लज्जा और संकोच के कारण उसे मर्मान्तक पीड़ा होने लगी। सम्पूर्ण साहस बटोर कर उसने वंशीदास जी को एक पत्र लिखा। उसमें उसने एक बार चन्द्रावती के दर्शनों की प्रार्थना की।"

पिता का हृदय छलनी हो गया था। जिसने मेरी पुत्री का सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर दिया, जिसने मेरे जीवन को निराश दुखी और रिक्त बना दिया, वही दुष्ट फिर मुझे मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाने आ गया। मर्माहत पिता ने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी उसने उसके पत्र का कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

तब जयचन्द्र ने चन्द्रावतीको एक अत्यंत मार्मिकपत्र लिखा—
"देवि ! मैं अधिकारी तो नहीं हूँ तुम्हें मुँह दिखाने का। किन्तु

मैं इस संसार से सदा के लिए जा रहा हूँ, चाहता हूँ महाप्रस्थान के पूर्व एक बार तुम्हारे चरण स्पर्शकर सकूँ अपने उष्ण अश्रुओं से तुम्हारे अरुण चरणारविन्दों को धो सकूँ। "हाँ मैं भूल गया, मैं तो म्लेच्छ हूँ, विधर्मी हूँ, तुम्हें स्पर्श करने का मुझे अधिकार ही क्या है, मैं स्पर्श नहीं करूँगा। दूर से एक बार केवल एक ही बार तुम्हारे अंतिम दर्शन करना चाहता हूँ। यही मेरी अंतिम लालसा है। क्या मेरी यह लालसा पूरी हो सकेगी ?"

चन्द्रावती ने पत्र पढ़ा रो पड़ी। काल की कैसी विडम्बना है जिसकी मूर्ति हृदय में तो लिखी है, किन्तु उसे आंख उठाकर देख नहीं सकते। शरीर से स्पर्श नहीं कर सकते। उसके लिए स्वेच्छा से सान्त्वना के दो शब्द लिख नहीं सकते। चन्द्रावती ने डरते डरते अपने पूज्य पिता जी से पूछा जिनकी इच्छा के विरुद्ध वह कुछ भी नहीं कर सकती थी। पिताजी! जयचन्द्र एक बार मिलना चाहता है।"

दुखी पिता ने अपने सम्पूर्ण रोष को छिपाते हुए अपने असह्य क्रोध को पीते हुए कहा—"बेटी! जयचन्द्र विधर्मी है, यवन है, धर्म भ्रष्ट है। उससे हमें क्या काम ?"

पुत्री ने फिर पिता से कुछ भी नहीं कहा। उत्तर भी कैसे दे। वह भगवान् विश्वेश्वर की अर्चना में तल्लीन हो गयी। भीतर से किवाड़ बन्द करके वह दिन भर शिवपूजन और स्तोत्रपाठ में ही लगी रहती।

इधर चन्द्रावती से कुछ भी उत्तर न पाकर जयचन्द्र विक्षिप्त हो गया। उन्मादावस्था में वह मंदिर के समीप आया। दूर खड़े होकर उसने पुकार की—"चन्द्रा! एक बार दर्शन दो, अंतिम बार मैं तुम्हें देखकर इह लोककी लीला समाप्तकरना चाहता हूँ।"

चन्द्रावती तो किवाड़ बंद करके स्तोत्रपाठ और पूजा में सल्लीन थी, उसने जयचन्द्र के शब्द सुने ही नहीं। निराश उन्मादी जयचन्द्र ने पत्थर पर सिर पटका और मन्दिर के द्वार पर लिख दिया–"सदा के लिए विदा होने को एक बार झांकी पाने को आया था, किन्तु पापी की वाणी ने भी साथ नहीं दिया वह भी द्वार तक जाकर लौट आई, तुम्हारे कानों तक वह भी नहीं पहुँची। अच्छा क्षमा! अंतिम विदा सदा के लिए विदा।"

इतना लिखकर जयचन्द्र ने फूलेश्वरी नदी में कूद कर अपने प्राणोंको विसर्जित कर दिया। पूजासे निवृत्त होकर जब चन्द्रावती ने दिवाल पर जयचन्द्र के लिखे ये शब्द पढ़े तब उसे कितनी मर्मान्तिक पीड़ा हुई होगी, इसका अनुमान कौन कर सकता है। वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। अपने अन्तःकरण के दुख को किस से कहे। मन की पीड़ा को किसके सम्मुख व्यक्त करे। पिता को तनिक भी पता लगेगा, तो उन्हें कितना क्लेश होगा। अतः उसने उस विषको स्वयं ही पीकर पचा डाला। अब उसे न भूख लगती थी न प्यास। कविता भी लिखती थी तो मानों करुणा को उगल रही हो। थोड़े ही दिनों में पूजा करते करते उसने इस पांचभौतिक शरीर का त्याग कर दिया।

ऐसी थी वह कवियित्री चन्द्रावती जिसके साथ कालने क्रूर खेल क्रीड़ा की और जो अपनी करुणामयी कविताओं से अजर अमर हो गयी।

काल की दृष्टि में न कोई छोटा है न बड़ा, न कोई अच्छा है न बुरा, उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। छोटे बच्चे को सोने का, चाँदी का, मिट्टी का, पत्थर का, कागद का या किसी अन्य वस्तु का बना खिलौना दे दो, उसके लिये सभी समान हैं। कुछ देर उस

से खेलेगा, फिर उसे फेंक देगा, नष्ट कर देगा फोड़ देगा। उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं।

पहिले हम समझा करते थे। दुःख तो हम निर्धनों के ही भाग्य में हैं, ये धनी लोग तो बड़े सुखी रहते होंगे। सदा माल उड़ाते होंगे।" तब हम समझते थे धन में ही सुख है। किन्तु जब धनी लोगों के संसर्ग में आये, बड़े लोगों से परिचय हुआ तब पता चला हम छोटे लोगों का दुःख भी छोटा ही है, जो जितना ही बड़ा होगा उसका दुःख भी उतना ही बड़ा होगा। बड़े आदमी हम से सहस्रों लाखों गुने दुःखी हैं। काल की चपेट से कोई भी नहीं बच सकते। काल की दृष्टि में सभी समान हैं। शतरञ्ज की गोटें चाहें वे हाथी हों, घोड़े हों, ऊँट हों, सभी काठ के ही बने हैं सभी एक समान हैं।

आज से ७-८ वर्ष पूर्व ही राजाओं के कैसे ठाठ थे, कैसा उन का वैभव था, कैसे राजकुमार थे। किसी को राजा से भेंट हो जाय, तो मानों भगवान् से भेंट हो गयी। राजा चाहें सुरापी हो मांसाहारी हों, व्यभिचारी हों, बड़े-बड़े संत महात्मा उनके दर्शनों को जाते थे। राजा में आठों लोकपालोंका अंश माना जाता था। गीता का "नराणां च नराधिपम्"। यह श्लोकपढ़करउसे भगवान् की विभूति माना जाता था। "राजा" शब्द में ही कितना गौरव था। तीर्थों में जहाँ कोई छोटा मोटा भी राजा पहुँच जाता था, तो हल्ला मच जाता था, लोग राजा के दर्शनों को दौड़े आते थे। काल के प्रभाव से एक यह भी दिन आया कि एक ही दिन में वे ईश्वर से साधारण लोग बन गये। साधारण लोगों की भाँति नौकरी करने लगे। लाखों मनुष्य जिनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते थे, अब वे साधारण लोगों की घुड़कियाँ सहते हैं उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। जो राजमहिषी, राजकुमारियाँ असू-

यँपश्या कही जाती थीं। स्वेच्छा से सूर्यनारायण भी जिन्हें नहीं देख सकते थे, वे ही रानी राजकुमारी आज साधारण स्त्रियों की भाँति सिर खोले, खुले बाजारों में घूमती दिखायी देती हैं। यह सब काल की ही तो महिमा है। काल कभी दरिद्री को सिंहासनारूढ़ करता है। तो कभी सिंहासनारूढ़ को पकड़ कर नीचे गिरा देता है। काल स्थिर बैठता नहीं वह चक्र की भाँति निन्तर घूमता रहता है, नीचे का ऊपर और ऊपर का नीचे यही क्रम उसका सतत अबाधितरूप से चलता ही रहता है। जिस प्रकार राजागण एक ही दिन में अपदस्थ हो गये। कभी ऐसा भी समय आवेगा, कि जनता पुनः राजाओं की माँग करेगी। ये लोग पुनः अपने गये हुए राज्यों को प्राप्त कर लेंगे। किसी की आँखों में जाला पड़ गया हो, तो चिकित्सक या तो अंजन लगाकर उस जाले को गला देता है, या शल्य चिकित्सा करके जाले को काटकर निकाल देता है। यह नहीं करता कि जिस आँख में जाला पड़ गया है, उस आँख को ही फोड़ दे। इधर काल के प्रभाव से राजाओं में, भूमिपतियों में बड़े दोप आ गये थे। वे अत्यंत मदान्ध बन गये थे, अधिकांश व्यभिचारी तथा दुर्व्यसनी बन गये थे। वे अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। दुर्निवार भगवान् काल को वे भूल ही गये थे। विषयों की दिन दूनी रात्रि चौगुनी लालसासे उन्हें आगे का कुछ ध्यानही नहीं रहा था। महाराज मुचुकुन्द ने काल रूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की स्तुति करते क्या ही सुन्दर बात कही थी। उन्होंने कहा—"प्रभो। हम राजा गण सदा इसी चिन्ता में रहते थे, कि हमें इतना धन मिल जाय, उसका राज्य प्राप्त हो जाय, उससे बढ़कर हम भोग-भोग सकें उससे बढ़िया ठाठ-बाठ बना सकें, इन्हीं विचारों में हम लोग उन्मत्त हो गये थे। विपय जितने ही मिलते जाते थे, उनकी लालसा भी

उतनी ही अधिक बढ़ती जाती थी। हमने आपके काल रूप को विस्मृत ही कर दिया था। जैसे क्षुधा के कारण जीभ लपलपाता सर्प असावधान चूहे को दबोच देता है, उसी प्रकार सदा सावधान रहने वाले काल स्वरूप आप प्रमत्त हुए जीवों को सहसा आकर पकड़ लेते हैं। यह हमारी ही दशा नहीं जीव मात्र की ऐसी दशा है।*

जब इन राजाओं ने अति कर डाली तो काल भगवान ने इन मदान्धों की आँखों में दरिद्रता रूपी अंजन डाल दिया जिससे इनका रोग दूर हो जाय। प्राणी जब तक स्वयं दारिद्र के दुःख का अनुभव नहीं करता, तब तक उसकी आँखें नहीं खुलतीं "असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्" इसलिये काल भगवान् ने इन्हें ऊपर से लाकर नीचे पटक दिया। सिंहासनों से नीचे गिरा दिया। इनके मदको चूर करने के लिये इनके अधिकार छीन लिये। किन्तु यह स्थिति भी बहुत दिन नहीं रहने की। क्योंकि काल भगवान् चुपचाप बैठने वाले नहीं हैं, वे ऊपर की वस्तु को नीचे और नीचे की वस्तु को ऊपर करते ही रहते हैं। राजाओं में अवगुण ही अवगुण नहीं थे कुछ गुण भी थे। एक ही स्थान पर इतने

---

* प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः॥
(श्रीभा० १० स्क० ५१ अ० ५०)

ऐश्वर्य का प्रदर्शन कहाँ होता था ? कला, कौशल, संगीत, साहित्य, धर्म, मर्यादा, शिष्टाचार, संरक्षण क्या नाममात्र के समाजवाद में संभव है ? सौन्दर्य, कुलीनता, परम्परागत संस्कृति की मर्यादा को ये ही स्थिर रखते थे । इन जड़ विधि की बेड़ी में जकड़े हुए क्षुद्राशय, क्षुद्रहृदय, अकुलीन, परम्परा से वंचित, चुने हुए शासकों से यह संभव नहीं। जनता अविलम्ब इनसे ऊब जायगी। फिर वंश परम्परागत राजाओं में गुण ही गुण दिखायी देने लग जायँगे। लोग राजा बनाने को व्यग्र बन जायँगे। साम्यवाद की शुष्क चक्की में पिसते पिसते पग पग पर सहकारीसरकारी बंधनोंसे मुक्त होनेके लियेसबलोगराजा चाहेंगे। वे क्या चाहेंगे काल ही उनके मुख से कहलायेगा । फिर राज्यों की स्थापना होगी, फिर सिंहासन लगेंगे, फिर छत्र मुकुट का बोल बाला होगा । यही उन लीलाधारी काल भगवान् की लीला है यही उन कौतुकी का कौतुक है । जब जैसा काल होने को होता है तब वैसे ही बानिक बन जाते हैं । जहाँ ग्रीष्मकाल जाने को होता है, लोग वर्षा के लिये अधीर हो जाते हैं, सदा आकाश की ही ओर ताकने लगते हैं। वर्षाकाल आ जाता है। वर्षा से ऊबे कि शनैः शनैः शरदी आती है। यह काल परिवर्तन इस ढँग से होता है, कि हमें प्रतीत ही नहीं होता कब बदल गया। बदलता तो नित्य ही है। लड़की बढ़ती तो प्रतिक्षण है। हम उसे गोदी में खिलाते हुए अनुभव नहीं करते। एक दिन देखते हैं उसका बाल काल तो चला गया, युवावस्था ने उसपर अधिकार जमालिया, तब पिता को उसके विवाह की चिन्ता होती है। इस प्रकार काल शनैः शनैः गुपचुप प्रतिक्षण परिवर्तन करता रहता है; हमें पता तब चलता है जब उस परिवर्तन का स्थूल रूप हमारी आंखों के सामने आ जाता है।

सबसे बड़ी साधना यही है कि प्रत्येक वस्तु में काल की क्रीड़ा देखी जाय। हमने एक बीज मिट्टी में बो दिया। समय पर उसे पानी से सींच दिया। कुछ दिन पश्चात् हम एक दिन सोकर उठकर सहसा प्रातः देखते हैं, उसमें छोटा अंकुर उत्पन्न हो गया। वह सहसा नहीं हुआ। काल भगवान् उसे भीतर ही भीतर पकातेरहे। जब उसका स्थूल रूप हमारी चर्म चक्षुओं को दिखायी दिया तब परिणाम का पता चला। फिर शनैः शनैः वह अंकुर बढ़ते बढ़ते बड़ा भारी विशाल वृक्ष बन गया। यही काल का काम है। इसी काल को सर्वान्तर्यामी ईश्वर मानो। इस काल को जिसने भगवान् समझकर नमस्कार कर लिया; वही सुख, दुख, पाप, पुण्य, हर्ष, विषाद आदि द्वन्द्वों से छूट कर निर्मुक्त बन जाता है। जो काल के इस रूप को बिना जाने ही मर जाते हैं, वे पुनः पुनः चौरासी के चक्कर में आते जाते रहते हैं। जीवन मरण के प्रवाह में पड़कर मरते और जन्म लेते रहते हैं जो काल का यथार्थ स्वरूप जान जाते हैं। वे न कभी मरते हैं न जन्म लेते हैं; मुक्तिभाक् बन जाते हैं, कालातीत हो जाते हैं। इसलिये प्रवाह रूप से बहने वाले इस काल को ही भगवान मानकर समस्त भगवत् स्तुतियों में काल को बारम्बार नमस्कार की गयी है, काल की महान् महिमा गायी गयी है। यह जो भी कुछ अच्छा, बुरा, खोटा, खरा, सदाचार, व्यभिचार हो रहा है, सब काल के ही प्रभाव से हो रहा है, इसमें दोष किसी का नहीं। काल की महिमा है सबका काल बँधा है,उससे कोई न राई भर घट सकता है न तिलभर बढ़ सकता है। काल ही जंगलों को नगर बनवा देता है, काल ही नगरों को सघन वन के रूप में परिणित कर देता है। काल ही बड़े को छोटा और छोटे को बड़ा [illegible]
इसीलिये राजर्षि भर्तृहरि ने काल को घड़ी [illegible]

भगवत् रूप में वन्दना की है।

एक बार भर्तृहरि कहीं से निकलकर जा रहे थे। वहाँ उन्होंने खंडहर पड़े, देखे उन्हें देखकर वे खड़े हो गये और अत्यन्त ही अधीरता के साथ अपने एक साथी से दीर्घनिःश्वास लेते हुए कहने लगे—

भाई! तुम इन खंडहरों को देख रहे हो न?

उसने कहा—"हाँ, देख तो रहा हूँ, इसमें क्या बात है टूटी फूटी ईंटें पड़ी हैं, ऊँची नीची भूमि है।"

भार्तृहरि ने कहा—"सो तो है ही, किन्तु इन खंडहरों में एक महान् इतिहास छिपा है; ये सब ईंटें अतीत की स्मृतियाँ दिला रही हैं, हृदय में मीठी मीठी हूक पैदा कर रही हैं।"

साथी ने कहा—"कुछ कहो भी तो।

भार्तृहरिजी ने कहा—"क्या कहें, कुछ कहने की बात हो तो कही भी जाय क्या से क्या हो गया। पहिले यहाँ एक बड़ी भारी नगरी थी। ऐसी सुन्दर ऐसी सजी बजी कि इसकी समता की खोजने पर भी कम नगरियाँ मिलेंगी। नगरी ही नहीं थी, यह एक राजा की राजधानी थी। राजा भी ऐसे वैसे साधारण राजा नहीं थे। वे सब से महान् माने जाते थे। सर्वत्र उनके धवल यश का विस्तार था। सर्वत्र उनके दान की ख्याति थी। उनके एक से एक बढ़कर कुलीन, विद्वान, नीतिज्ञ, देशकालज्ञ संधि विग्रह में दक्ष सैकड़ों मंत्री थे। उनकी अद्वितीय राजपरिषद् थी। जो संगीत की ध्वनि से सदा प्रतिध्वनित होती रहती। स्वर्ग की अप्सराओं के समान वारवनितायें जहाँ नित्य नये नये नृत्य दिखातीं, बन्दी विरुदावली गाते। नट नर्तक अपनी अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते। पंडित गण शास्त्र चर्चा करते। जहाँ कितने निर्धन नित्य धनी बनाये जाते। उस राजा की

एक से एक सुन्दरी अप्सराओं को भी लज्जित करने वाली सहस्रों रानियाँ थीं। जिनके हास, विलास, रूप, यौवन, सौन्दर्य, सौभाग्य को देखकर सुर ललनायें भी ईर्ष्या करतीं। कितने सुन्दर सुन्दर उस राजा के सैकड़ों राजकुमार थे, जब वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर सुन्दर सुडौल पुष्ट घोड़ों पर चढ़कर निकलते तो पृथिवी डगमग करने लगती। उस राजा की राज कुमारियाँ कितनी सुन्दरी थीं, जब वे अपने अन्तःपुर के बगीचों में टहलतीं तो ऐसा लगता था मानो सैकड़ों पूर्णचन्द्र अपनी शीतलमन्द किरणों से आराम को आलोकित कर रहे हों। उस राजा का अतुल वैभव था, सुरपति को भी लज्जित करने वाला उसका वैभव था, किन्तु आज देख रहा हूँ न यहाँ वह नगरी है, न वे फल फूलों से लदे बाग बगीचे और वृक्ष ही हैं। न वे राज महल हैं, न राजसभा, राजा, रानी, मंत्री, सचिव, सेवक, नट, नर्तकी, सूत, मागध, बन्दी तथा सेवक, सेनापति और तथा प्रजा जन न जाने सबके सब कहाँ चले गये। ये सब काल कवलित हो गये। काल भगवान् के गाल में समा गये। कहने मात्र को रह गये। जिन काल भगवान् की कृपा से ये सबके सब विलीन हो गये, उन काल देव को बारम्बार नमस्कार है, प्रणाम है वन्दना है।"

मुझे बहुत से बन्धु लिखते हैं, पूछते हैं—प्रति मास "भागवती कथा" निकालना चाहते थे। अब तो वर्षों दर्शन नहीं होते, निकालने में देरी क्यों करते हो? क्या उत्तर दूँ, यही कहता हूँ सब काल के अधीन है काल पाकर अवश्य निकल जायँगी। जो काल ऊजड़ को नगर बना देते हैं, नगरों को उजाड़ देते हैं, उन काल भगवान् को बारम्बार नमस्कार है। राजर्षि भर्तृहरि के शब्दों में-

भ्रात कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्।
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत् ताश्चन्द्र विम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्र निवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः,
सर्वंयस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥

छप्पय

हाय ! बन्धु अति कष्ट रही इत नगरी भारी।
रह्यो महा नृप साधु नारि सुमुखी सुकुमारी॥
सुन्दर सुघर सुशील राजसुत अति बलवन्ता।
सेवक सचिव समूह समर प्रिय सब सामन्ता॥
बन्दी बहु बिरुदावली, गावत रह्यो न नाम है।
निगले जिनि सब काल तिनि, बारम्बार प्रनाम है॥

संकीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग
मिती चै० कृ० ६।,२०१५

प्रभुदत्त

सं० २०१५ में यह ६८ वें खण्ड के लिये भूमिका लिखी थी। अब सम्भवतः ६९ वाँ खण्ड पहिले निकलेगा, इसलिये यह भूमिका भी इसी ६८ वें खंड में जोड़ दी है। काल अब क्या कौतुक कराते हैं। कुछ पता नहीं। पाठक पाठिकायें काल की चर्चा करें, कालरूप भगवान् को नमस्कार करें, सभी कथाओं में काल के लम्बे हाथ को देखें। आप दुःख शोक से छूट जायेंगे। सबको प्रणाम ! नमस्कार !

अखिल भारतीय संस्कृत–साहित्य–सम्मेलन

के

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री

स्वर्गीय पं० केदारनाथ शर्मा, सारस्वत

की

शुभ सम्मति

श्री ब्रह्मचारीजी महाराज द्वारा लिखित और प्रकाशित भागवती कथा को मैंने आरम्भ से पढ़ा, श्री ब्रह्मचारीजी ने भागवत जैसे महत्वपूर्ण कठिन और पवित्र ग्रन्थ को सरस और सरल भाषा के माध्यम से जनता में प्रचारित करके "विद्यावतां भागवते परीक्षा" का प्रमाण ही प्रस्तुत नहीं किया है, प्रत्युत इस कार्य से उन्होंने भारतीय संस्कृति का भी महान् उपकार किया है।

यह असाधारण और अत्यावश्यक कार्य श्री ब्रह्मचारीजी जैसे असाधारण भक्त से ही सम्भव था, मैं इसका घर-घर प्रचार चाहता हूँ।

सप्रेम—केदारनाथ शर्मा सारस्वत